

क्या भारत का इतिहास भारत के शत्रुओं द्वारा लिखा गया है?



पुरुषोत्तम नागेश ओक

क्या भारत का इतिहास
भारत के शत्रुओं द्वारा लिखा गया है?

पुरुषोत्तम नागेश ओक

सम्पादकीय

© प्रकाशकार्धीन

क्या भारत का इतिहास भारत (भारतीयता) के शत्रुओं ने लिखा है ? इसी प्रश्न का एक पहलु यह है—विश्वभर के विश्वविद्यालय जहाँ बड़े-बड़े इतिहासकार अधिकार जमाकर बैठे हैं, सहस्रों इतिहासकार वहाँ बैठे लाखों लोगों को इतिहास पढ़ाते हैं, क्या वे भारत के शत्रु हैं ? अथवा क्या वे बुद्धि के कोहलू हैं ?

अंग्रेजी भाषा में एक पद है जिसका अर्थ है, या तो धूर्त है अथवा मूर्ख है ?

मूर्ख इस दृष्टि से हैं कि प्रायः पढ़े-लिखे लोग एक कल्पना कर लेते हैं और अपनी कल्पना ठीक है, फिर उसके प्रमाण ढूँढ़ते फिरते हैं। जो भी प्रमाण (?) उन्हें मिलते हैं उनको जबरदस्ती अपनी कल्पना में सही उतारने की चेष्टा करते हैं। जैसे गोलाकार छिद्र में चौकांर टुकड़ा फिट करने का प्रयास किया जाता है।

विद्वानों की कल्पना में यह बात आई कि मध्य एशिया से सभ्यता सारे विश्व में फैली। भारत में भी तथा योरुप में भी। अब लाख युक्ति उनको दें कि यह सभ्यता मूल में भारत से मध्य एशिया को गई और वहाँ से विश्व में फैली परन्तु ये बुद्धि के कोहलू जो गोल सुराख बनाकर बैठे हैं, इस बात को मानने को तैयार नहीं कि उनके मस्तिष्क में जो गोल सुराख बना है वह उनकी भूल है।

एक विचित्र बात यह है कि वर्तमान सभ्यता में पले तथाकथित विद्वान

मूल्य : 30.00

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सदन

2 बौद्धी, चैम्पर्स, 10/54 देश बन्धु गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली-110005

email : indiabooks@rediffmail.com

फोन : 23553624

संस्करण : 2007

मुद्रक : संजोव ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली-51

क्यों इतना विद्यक उठते हैं जब उन्हें यह बताने का प्रयास किया जाता है कि आदि सभ्यता वैदिक सभ्यता है तथा वेदों में सृष्टि सम्बन्धी तथा आध्यात्मिक ज्ञान भरा पड़ा है। कुछ भी, जो भारत के मूल की बात होगी वे मानने को तैयार नहीं होते?

और तो और, भारत में पढ़े-लिखे (विद्वान) भी उनके पीछे दुम हिलाते फिरते हैं। उनको भी भारतीयता से ऐसे ही चिढ़ हो गई है जैसे लाल कपड़ा देखकर सांड को हो जाती है।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा के स्थापक मैकाले ने अपने पिता को एक पत्र में लिखा था कि जो भी व्यक्ति एक बार इस शिक्षा पद्धति से शिक्षित हो जाएगा वह अपनी सभ्यता, संस्कृति, मान्यताओं तथा धर्म पर आस्था नहीं रख सकता।

यह कहा जाता है कि जो जाति अपना इतिहास भूल जाती है वह नष्ट हो जाती है। वह जन-समुदाय तो रहता है परन्तु दिशाहीन-सा।

भारत की महानता, भारत के आध्यात्म ज्ञान में, भारतीयों के चरित्र-बल में, वेद उपनिषदादि दर्शन शास्त्रों में वर्णित ज्ञान के कारण है। इसी के आधार पर हम कह सकते हैं कि 1200 वर्षों की गुलामी के बाद भी हम एक जीवित जाति हैं।

परन्तु हमारे इतिहास को भ्रष्ट कर हमें अपनी प्ररम्पराओं से दूर किया जा रहा है। और इसमें मुख्यतया संलग्न ये इतिहासकार ही हैं। हमारा इतिहास बदला जा रहा है। हमारा साहित्य मिथ्या आधारों पर रचा जा रहा है। परिणाम यह हो रहा है कि समाज में अनाचार, दुराचार, भ्रम, भ्रष्टाचार फैल रहा है और यह बढ़ता ही जा रहा है।

इस लेख में (विशेषांक में) श्री पुरुषोत्तम नागेश ओक ने यह बताया है कि भूल कहाँ है।

भूमिका

यदि इतिहास से हमारा अर्थ किसी देश के तथ्यात्मक एवं तिथिकमान त सही-सही भूतकालिक वर्णन से हो, तो हमें वर्तमान समय में प्रचलित भारतीय इतिहास को काल्पनिक 'अरेबियन नाइट्स' की श्रेणी में रखना होगा।

इस लेख में मैंने भारतीय इतिहास-परिशोध की कुछ भयंकर भूलों की ओर इंगित किया है। जो भूलें यहाँ सूची में आ गई हैं, केवल वे ही अंतिम रूप में भूलें नहीं हैं। भारतीय और विश्व-इतिहास पर पुनः दृष्टि डालने एवं प्राचीन मान्यताओं का प्रभाव अपने ऊपर न होने देने वाले विद्वानों के लिए अन्वेषण का कितना विशाल क्षेत्र उनकी बात जोह रहा है, केवल वह दिखलाने के लिए ये तो कुछ उदाहरण मात्र हैं।

हमारी शिक्षा-संस्थाओं में आज जिस प्रकार भारतीय इतिहास मढ़ाया जा रहा है, हमारे अनुसंधान संगठनों में आज जिन भ्रमकारी धारणाओं पर इसे देखा जा रहा है, और आज जिस प्रकार इसको सरकारी और विश्वविद्यालयीय माध्यमों में विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है, वह समस्त भयावह स्थिति मुझे अत्यंत दुःख दे रही है।

भारतीय इतिहास में जिन विशाल सीमाओं तक अयथार्थ और मनषड़त विवरण गहराई तक पैठ चुके हैं, वह राष्ट्रीय घोर संकट के समान है। जो अधिक दुःखदायी बात है, वह यह है कि प्रचलित ऐतिहासिक पुस्तकों में समाविष्ट इन तोड़मरोड़ों, भ्रष्ट वर्णनों और विसंगतियों के अतिरिक्त अनेक विलुप्त अध्याय भी हैं। इन विलुप्त अध्यायों का सम्बंध विशेष रूप में उस साम्राज्यशाली प्रभुत्व से है जो भारतीय क्षत्रियों को दक्षिण-पूर्व प्रशांत महासागर में बाली द्वीप से उत्तर में बालिटक सागर, तथा कोरिया से अरेबिया

और सम्बन्धितः, भैक्षिकों तक प्राप्त था। कम-से-कम, उसी विशाल क्षेत्र में तो वे दिग्बिजयें (सभी दिशाओं को विजय करना) हुई थीं जो हम बहुधा भारतीय वाह्यमय में पाते हैं। हमारे (आधुनिक) इतिहास-ग्रंथ उन पराक्रमों का कुछ भी उल्लेख नहीं करते।

भारतीय इतिहास-परिशोध किन प्रमुख स्थलों पर तथ्यात्मक और तिथि-क्रमांक सत्य के मार्ग से भटक गया है उनकी कम-से-कम स्थूल रूप में कुछ अनुभूति तथा यह अनुभूति कि इसके कम-से-कम कुछ महत्त्वपूर्ण अध्याय तो विलुप्त हैं ही—दोनों ही हमारे बिद्वानों, शिक्षण-संस्थानों, अनु-संधान-संगठनों, विद्यार्थियों, शिक्षकों और जन-सामाज्य के लिए अनिवार्य हैं।

भारतीय इतिहास-परिशोध की कुछ भव्यंकर भूलें मुझे मिलीं, उनको प्रस्तुत करने का ही इस समय विचार है। किसी भी प्रकार समझिए, मैं कोई बड़ी भारी सूची, ऐसी भूलों की नहीं रखता हूँ। यहाँ जिन थोड़ी-सी भूलों का मैं अभी उल्लेख करना चाहूँगा, वे तो भारतीय इतिहास से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों को चौकन्ना करने के लिए पर्याप्त उदाहरण मात्र हैं कि जो कुछ उनको चौकोसों घटे, भारतीय इतिहास में सही-सही बताए जाने की घोषणा की जाती है, वह प्रान्तियों के कारण विषाक्त है, और अपने विलुप्त अध्यायों के कारण आवश्यक संजोवंत तत्त्वों से विहीन हो निष्पाण है।

यदि हम शिक्षा-जगत् की पाद्य-पुस्तकों में व्याकरण, वाक्य-विन्यास या विषय-वस्तु सम्बन्धी थोड़ी त्रिटियों से उत्तेजित हो जाते हैं, तो हमें पढ़ाए जा रहे और समस्त विश्व को प्रस्तुत किए जा रहे त्रुटिपूर्ण तथा पंगु भारतीय इतिहास को देखकर तो हमें निश्चित रूप से ही आग-बबूला होना चाहिए।

भव्यंकर भूलों की खोज

हुआ ऐसा कि अपने शिशुकाल से ही मुझे ऐतिहासिक स्मारकों का भ्रमण करने में बड़ा मजा आता था। वर्षानुवर्ष व्यतीत होने पर, विशेष रूप से जब मैं दिल्ली, आगरा और फतहपुर सीकरी गया और जब मुझे बताया गया, जैसाकि अन्य सभी लोगों को बताया जाता है कि लगभग सभी मध्यकालीन

स्मारक इस या उस सुल्तान के बनाए हुए हैं तो मेरे मस्तिष्क में प्रश्नों की झड़ी ही लग गई।

मैं सोच मैं पढ़ गया कि इसका क्या कारण है कि पाण्डवों से लेकर पृथ्वीराज तक, कम-से-कम 3000 वर्ष तक निरन्तर शासन करने वाले हिन्दुओं का अपना कहलाने वाला कोई भी स्मारक नहीं है! यदि उन्होंने कोई स्मारक नहीं बनाया था, तो वे, उनके राजसेवक और अन्य लोग रहते कहाँ थे? यदि उस काल में, जैसाकि शेखी मार-मारकर वर्णन किया जाता है, भारत में दूध-दही और मधु की नदियाँ बहा करती थीं, और प्रत्येक चिमनी में से सोने का धुआँ निकलता था, तो वह अपार धन संग्रहीत कहाँ होता था? और यदि रोम रोमनिवासियों के द्वारा बना है, लंदन लंदनवासियों और टोकियो जापानियों द्वारा, तो यह केवल भारत में ही कैसे हो गया कि दिल्ली, आगरा, फतहपुर सीकरी, इलाहाबाद, अहमदाबाद तथा मध्यकालीन स्मारकों से भरपूर अनेक अन्य नगरियाँ विदेशियों के अनेक प्रकारों; यथा अफगान, तुर्क, ईरानी, मंगोल, अबीसीनियन, कज़ाक और उज़्बेकों द्वारा तथा तथ्य रूप में तो भारतीयों के अतिरिक्त सभी लोगों के द्वारा बनाईं-बसाईं गई? और क्या ये भारतीय, जो निर्माण-कला में इस प्रकार गोबर-गणेश और नौसिखिए, समझे गए, वही व्यक्ति नहीं हैं जिन्होंने मदुराई-मंदिरों, रामेश्वर-सेतु, कौणार्क, अजन्ता, एलोरा तथा चट्टानें काटकर अनेक भव्य प्रासाद, आबू पर्वत पर मंदिर, रणथम्भौर जैसे दुर्धर्ष दुर्ग और आमेर तथा उदयपुर जैसे राजप्रासाद बनाए? और यदि भारत के महत्त्वपूर्ण सभी नगरों की स्थापना करने वाले और यहाँ के सभी प्रसिद्ध भव्य स्मारकों का निर्माण करने वाले उपर्युक्त विदेशी महानुभाव ही थे तो यह क्या बात है कि भारतीय वास्तुकला की हिन्दू शैली के लिए उन सभी में समान रूचि थी? और यदि भारतीय संस्कृति से ही वे इतने सम्पोहित हो आकृष्ट हुए थे, तो इसका क्या कारण है कि वे हिन्दू नाम से ही इतना अधिक बैर करते थे और अत्यंत उत्तेजित हो बार-बार लूटना, हत्याएं करना, व्यभिचार और विध्वंसादि घृणित कार्यों में लगे रहते थे? और यदि शताब्दियों तक ये विदेशी शासक और उनके सरदार अपने मकबरे और राजमहल हिन्दू शैली में बनाते

रहे, तो क्या उनके सांस्कृतिक एवं धार्मिक अनुबर्ती—आज के मुस्लिम—कोई भी अपना मकबरा, मस्जिद या घर किसी हिन्दू चिह्न से युक्त बनाते हैं? और इसका क्या कारण है कि वे विदेशी लोग, जो विभिन्न राष्ट्रों से सम्बन्ध रखते थे, दास से लेकर शाहजादे तक के विभिन्न स्तरों के थे और विभिन्न जातियों के थे, स्मारक के पश्चात् स्मारक, नगरोपरान्त नगर और मकबरे व मस्जिद—सभी कुछ हिन्दू लक्षणों से युक्त बनाने में उसी उत्साह और एक-सी रुचि का प्रदर्शन करते रहे? इसका क्या कारण है कि बिना तदनुरूप राजप्रासादों के, उन लोगों ने केवल मकबरे और मस्जिदें ही बनवाईं। यदि उन्होंने अपने पूर्वजों के लिए केवल मकबरे और मस्जिदें ही बनाईं तो वे सभी विदेशी शासक व उनके सरदारादि कहाँ रहते रहे? कंगले से शहजादे तक सभी मुस्लिम धरों में निरन्तर चलने वाले वीभत्स घरेलू उत्तराधिकार के पारम्परिक संघर्षों के संदर्भ में इसका क्या स्पष्टीकरण है कि पूर्वजों से लेकर अनुजों तक सभी ने अपने उन पूर्वजों के लिए मकबरे बनवाए, जिसके रक्त के प्यासे वे सारी उमर रहे थे, और जिनको गुफ़ भाव में मूलौत्पाटन करने के लिए सदैव अत्यंत आतुर रहते थे?

इस प्रकार के हजारों विचारों ने मेरे मानस में हलचल मचा दी और मुझे अशांत कर दिया। वे सब मेरे सम्मुख एक पहेली बनकर खड़े हो गए—असंगतियों और परस्पर विरोधी बातों का एक पिटारा सम्मुख था।

इन प्रश्नों ने मुझे गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर विवश कर दिया। हताश हो, मैं विश्व के इतिहास में इसके समान उदाहरण ढूँढ़ने लगा। मैं खोजने लगा कि क्या किसी अन्य देश में भी ऐसे स्मारक हैं जिनको उनके सपूत्र देशवासियों ने न बनाकर, उस देश को जीतने वाले बाहरी व्यक्तियों ने बनाया हो? मेरे मानस में रोम नगरी का चित्र आ गया। रोम की भी उन्नत प्राचीन सभ्यता थी, और उसमें अभी भी प्राचीन भव्य स्मारकादि हैं। मैं स्वयं सोच में पड़ गया कि क्या यह ठीक होगा कि मैं किसी रोमवासी के समक्ष यह विचार प्रस्तुत करूँ कि वे समस्त सुन्दर तथा भव्य भवन उसके पूर्वजों द्वारा न बनाए जाकर उन विदेशी लोगों द्वारा बनाए गए थे जिन्होंने समय-समय पर रोम को जीता था और अपने अधीन किया था? यह विलक्षण बेहूदा बात होती।

मैं विचार करने लगा, कि तब क्या यह सम्भव है कि आज जो स्मारक जिहादियों द्वारा निर्मित भारतीय शैली के विश्वास किए जाते हैं, वे सब हमारे प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दू राजपूत और शत्रियों द्वारा बनाए गए मन्दिर, दुर्ग और राजमहल हैं जो जिहादी आक्रान्तों ने जीत लिए थे, जिनमें वे रहे थे और जिनको उन्होंने बाद में मकबरों और मस्जिदों में बदल दिया था। केवल मात्र कल्पना होने पर भी वह विस्मयकारी विचार था। किन्तु यह अन्वेषणीय अवश्य था।

इसके अतिरिक्त, किसी कागज या अभिलेख का ऐसा एक भी टुकड़ा उपलब्ध नहीं है जो यह प्रदर्शित करता हो कि एक भी मकबरा, किला या मस्जिदों बनाने का आदेश किसी जिहादी सरदार या शासक ने दिया हो। भूखण्ड के अधिग्रहण अथवा भवन प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में कोई भी रूपांकन, चित्रांकन, कोई पत्र-व्यवहार या आदेश, ऐजी गई सामग्री के लिए देयक और अपनी सेवाओं के बदले में पावतियाँ कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं।

यथार्थतः, इतिहासवेत्ताओं और अन्वेषणकर्ताओं को बुरी तरह झाँसा दिया गया है। उनके लिखे सभी इतिहास और ग्रन्थ के वल सुनी-सुनाइ बातों पर ही आधारित हैं। चूंकि कोई भी भवन स्पष्ट रूप में शताव्दियों से मकबरे या मस्जिद के रूप में उपयोग में आता रहा है, इसलिए उन लोगों ने धारणा बना ली कि यह भवन मूल रूप में ही इस प्रकार के बनाने के लिए आज्ञापित था। यहीं तो वह भयंकर भूल है जिसने हमारे सभी पुरातत्त्वों अभिलेखों, ऐतिहासिक-स्थलों के नाम-पट्टों, पाठशालाओं और विद्यालयों में प्रयुक्त होने वाली ऐतिहासिक पाठ्य-पुस्तकों तथा अन्वेषण-संस्थानों में आत्मतुष्टि और सहज रूप में ही सन्दर्भ के लिए आधार बनाई गई विद्वान्पूर्ण पुस्तकों को विकृत कर दिया है।

यह गम्भीर भूल राष्ट्र को बहुत महँगी पड़ी है। भारत पर एक हथार वर्ष से अधिक समय तक विदेशियों का शासन रहने के कारण इन भयंकर भूल-भरी धारणाओं, और विदेशी चाटुकार दखारियों अथवा अपनी यशमाधाओं का वर्णन करते हुए स्वयं शासकों द्वारा लिखे गए स्मृति ग्रन्थों और तिथि-वृत्तों ने

शनैः - शनैः समय व्यतीत होने के साथ-साथ अधिकारिता और शुचिता की छाप ग्रहण कर ली है। उस घोर असत्त्वता का भारी बोझ अब इतना अधिक, सघन व गहन हो चुका है कि इस भयंकर भूल को अनुभव करने वाले भी इसको निमूल करने में नैराश्य से दुःखी हो जाते हैं। अतः वे स्वयं को इसी में सन्तुष्ट कर लेते हैं कि अब तो जो पढ़ाया जा रहा है, ठीक ही है, चलते रहने दो। सब ही कर लेना चाहिए। वे सोचते हैं कि अब तो इस बात के बिरुद्ध शोर-शराबे का समय निकल चुका है। इस प्रकार हम एक दूषित चक्र में फँस जाते हैं। हम अपने विद्यार्थियों को झूठा इतिहास पढ़ाते हैं जो इसी प्रकार लिखा गया है, और परस्पर विरोधी तथा बेहूदा बातें होते हुए भी इस इतिहास की अवहेलना करने का साहस इतिहास का कोई विद्वान् नहीं करता क्योंकि यही तो वह इतिहास है जो उनको पढ़ाया गया है।

मैं इतिहासवेत्ताओं को इस बात से सावधान करना चाहता हूँ कि जब तक स्वतंत्र रूप से सिद्ध करने वाला और स्पष्ट अन्य प्रमाण न मिल जाए, तब तक स्मारकों पर लगे, खुदे हुए विवरणों को स्मारकों के मूल से सम्बद्ध करने का यत्न न करें। विन्सेट स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'अकबर—महान् मुगल' में ठीक ही लिखा है कि अधिग्रहीत स्मारकों पर उसकी इच्छानुसार खुदाई करने के लिए अकबर ने अपने पास एक पूरी फौज ही रखी हुई थी। फ़तहपुर सीकरी के स्मारकों पर उत्कीर्ण सामग्री इसी प्रकार की खुदाई है।

इस प्रकार की निराधार विश्वासांधता ने ही इतिहासवेत्ताओं की दृष्टि से वह तथ्य ओङ्काल कर दिया है कि ग्वालियर स्थित मोहम्मद गँगीस का तथाकथित मकबरा, फ़तहपुर सीकरी स्थित सलीम चिश्ती और दिल्ली में हजरत निज़ामुद्दीन की दरगाहें जो अत्यन्त परिश्रम से बनाए हुए मन्दिर प्रतीत होते हैं, वास्तव में मन्दिर ही हैं। यह कथन कितना हास्यापद है जब हम विचार करें कि मुस्लिम आक्रमणकारी इतने बहुविध निर्माता थे कि उन लोगों ने न केवल चूप्य-शासकों के लिए ही, अपितु सफदरज़ंग जैसे सरदारों एवं भिरती, जमादार, कुम्हारों, धायों और हिज़ूँ के भी राजप्रासादीय स्तर के भव्य स्मारक बनवाए।

—पुरुषोत्तम नागेश औक

भारतीय स्मारकों का निर्माण-श्रेय विदेशी मुस्लिमों को दिया गया

भारतीय इतिहास-परिशोध में जिस भयंकर भूल का मैंने सर्वप्रथम भण्डाफोड़ किया है, वह मध्यकालीन स्मारकों के मूल के सम्बन्ध में है।

प्रमुख-प्रमुख स्मारकों का एक-एक कर अध्ययन करने के पूर्व हम अविश्वासी व्यक्तियों से कहना चाहते हैं कि हम ऐसे स्मारकों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत कर सकते हैं जिनको इतिहासवेत्ताओं ने स्वीकार कर लिया है कि यद्यपि आज वे छद्मवेष में मुस्लिम स्मारक द्रष्टव्य हैं तथापि मूलरूप में वे पूर्वकालिक हिन्दू-भवन ही हैं। यह प्रथम दर्शनाधारित विषय उनका विद्वत्तापूर्ण ध्यान अन्य सभी मध्यकालीन स्मारकों के सम्बन्ध में हमारे विश्वास की ओर खोंच सकता है।

पूना-स्थित पूर्वकालिक पुण्येश्वर और नारायणेश्वर मन्दिर आज शेष सल्ला दरगाह—छोटी और बड़ी के नाम से पुकारे जाते हैं। महामहोपाध्याय दत्तो वामन पातेदार ने, जो स्वयं सुप्रसिद्ध इतिहासकार हैं तथा पूना विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति हैं, पूना में दिसम्बर '63 में हुए भारतीय इतिहास परिषद् के रजत जयन्ती अधिवेशन के अवसर पर स्वागत-समिति के अध्यक्षीय भाषण में इस तथ्य का उल्लेख किया था।

मध्य भारत में धार नामक स्थान पर तथाकथित कमालमौला मस्जिद को अब पिछले कुछ वर्षों से, विमनस हो, पुरातन 'सरस्वती-कण्ठाभरण' स्वीकार किया जाने लगा है। इस भण्डार में प्रस्तर-फलकों पर उत्कीर्ण

संस्कृत-नाटक सुरक्षित रखें जाते थे। यह तथ्य तब प्रकट हुआ जब छद्यरूप में कूपर किया हुआ पलस्तर, रहस्य का भण्डाफोड़ करता हुआ अचानक एक दिन नीचे गिर गया।

गुजरात में सिद्धपुर नामक स्थान पर सुप्रसिद्ध लिंग-महालय अर्थात् शिवमन्दिर अभी भी मस्जिद के रूप में उपयोग में आ रहा है।

बाराणसी में काशी विश्वनाथ मन्दिर अभी मस्जिद के रूप में उपयोग में आ रहा है।

सुप्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर भी, ब्रिटिश शासन से मुक्ति-पूर्व, भारत में मस्जिद ही समझा जाता था और तथ्यरूप में मस्जिद के रूप में ही व्यवहार में आ रहा था।

देश-विभाजन के दिनों के दिनों में ही तो यह मालूम पड़ा था कि पुरानी दिल्ली के दरोबा-कलाँ नामक स्थान पर एक तथाकथित मस्जिद के तलवर में हिन्दू-देवमूर्तियों का विपुल भण्डार दबा पड़ा है।

अजमेर-स्थित 'अहाई दिन का झोपड़ा' अब सर्वसम्मत रूप में विग्रह-राज विशालदेव के शिक्षण-स्थल का अंश स्वीकार कर लिया गया है।

दिल्ली-स्थित तथाकथित कुतुबमीनार अब व्यापक रूप में पूर्वकाल का हिन्दू-स्तम्भ स्वीकार किया जाता है। कहा जाता है कि मुस्लिम लीग के जनक और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के संस्थापक सर सैयद अहमद खान ने स्वीकार किया था कि, "कुतुबमीनार और पाश्वरस्थित मन्दिर का निर्माण-श्रेय हिन्दूकाल को देने वाली बत्तमान परम्परा ठीक मालूम देती है।"

ये तो केवल मात्र कुछ उदाहरण ही हैं, किन्तु यदि समस्त भारत में विद्यमान उन स्मारकों को एक बृहद् सूची बनाई जाय जो आज भी सर्वमान्य रूप में हिन्दू-स्मारक हो हैं चाहे वे छद्यरूप में मुस्लिम प्रतीत होते हैं, तो मैं निश्चय से कह सकता हूँ कि इनकी संख्या हजारों तक पहुँच जाएगी।

इन उदाहरणों ने मेरे मन्देहों को बल प्रदान किया, और मैंने मुस्लिमों ने सम्बद्ध अन्य स्मारकों का सूक्ष्मता से तथ्य-निरूपण करना प्रारम्भ कर दिया। और आश्वर्य को बात तो यह है कि मुझे जात हो गया कि किसी भी

मुक्त मानस को उन स्मारकों के हिन्दू-मूलक सिद्ध करने के लिए वे स्मारक स्वयं ही पर्याप्त साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

हम कश्मीर पर दृष्टि ढालें। केवल कुछ शताब्दी पूर्व ही कश्मीर-ठपत्यका संस्कृत-मन्त्रों से गुंजरित हुआ करती थी। धूलि-धूसरित हिन्दू-भवनों के घ्वंसावशेष अभी भी कश्मीर में मातंण्ड तथा अन्य स्थानों पर देखे जा सकते हैं। कश्मीर की राजधानी का नाम 'श्रीनगर' अभी भी विशुद्ध संस्कृत है। घाटी में प्रवाहित होने वाली नदी का नाम, 'जेहलम', भी पानी अर्थ-द्योतक संस्कृत शब्द 'जलम' से व्युत्पन्न है। श्रीनगर की एक पहाड़ी पर स्थित महान् संस्कृत दार्शनिक शंकराचार्यजी का मन्दिर एक सुप्रसिद्ध भू-चिह्न है।

वेरिनाग

श्रीनगर पहुँचने से लगभग 20 मील पहले एक विषयगमन पर पोटर मार्ग से 10-12 मील पर हम वेरिनाग जा पहुँचते हैं। यहाँ पर जेहलम नदी का उदगम है, जो मैदीना और समतल भूमि के धरातल से विलकुल स्पष्ट नीलवर्ण झरने के रूप में फूटती है। 'जल-सर्प' के द्योतक 'वारिनाग' संस्कृत-शब्द का कुछ अपभ्रंश-रूप ही तो वेरिनाग है। नागपूजा के लिए हिन्दू लोग विख्यात हैं। लोकप्रिय हिन्दू जनश्रुति के अनुसार हमारी पातृभूमि क्या सकल पृथ्वीमाता का अवलम्ब ही शेषनाग है। परम्परा के अनुरूप ही वेरिनाग का एक मन्दिर समीपस्थ वृक्ष के नीचे झुरमुट में अभी भी बना हुआ है। नदी-निर्झर एक लघु वर्तुल जलकुण्ड में समाविष्ट है। जलकुण्ड के चारूं ओर एक 8 से 10 फीट ऊँची स्तम्भपीठ है जिसमें मेहराबदार तोरण हैं। इन सधन तोरणों के मध्य में प्राचीन प्रस्तर की देव-प्रतिमाएँ हैं जो सिर पर पगड़ी धारण करने वाले और अपने ललाट पर सुगन्धित चन्दन का लैप करने वाले डोगरा पण्डितों द्वारा अभी भी पूजी जाती हैं। चारों ओर, पास में ही, विस्तृत स्तम्भपीठ के अवशेष देखे जा सकते हैं जो इस बात के स्पष्ट रूप में द्योतक हैं कि यहाँ पर निर्मित कोई भवन अवश्य ही गिरा दिया गया है। किसी भी निष्पक्ष प्रेक्षक को यह विश्वास दिलाने के लिए वे घ्वंसावशेष पर्याप्त हैं कि

इसी स्थल पर सुशोभित प्राचीन बारिनाग-मन्दिर मुस्लिम विजेताओं द्वारा नष्ट कर दिया गया था। यदि इस क्षेत्र की खुदाई की जाए, तो निश्चित है कि और भी देव-प्रतिमाएँ तथा अन्य साक्ष्य उपलब्ध होंगे। इस अत्यन्त प्रबल प्रमाण की विद्यमानता के होते हुए भी तुलनात्मक रूप में नवीन, लाल पत्थर के एक फलक को वहाँ लगा दिया गया है जो आधुनिक उदू भाषा में घोषणा कर रहा है कि इस निझंर को अपने अंचल में समा लेने वाला निर्माण-कार्य अकबर या जहाँगीर की प्रेरणा पर किया गया था।

यह दावा परि-परिक्षण पर सही सिद्ध नहीं हो सकता। जैसा प्राचीन निर्माण-कार्य यह है, उससे हिन्दुस्तान के किसी शक्तिशाली सम्राट को तो क्या, किसी साधारण गृहस्थ को भी कोई यश नहीं मिलेगा! नदियों के स्रोतों को जल-कुण्डों को बाँधकर रखना हिन्दुओं के लिए तो पुण्य का कार्य निस्सन्देहात्मक रूप में है, तथापि यह मुस्लिम परम्परा का अंग कभी नहीं रहा। यदि इसका निर्माता कोई मुस्लिम बादशाह सचमुच ही होता, तो यह स्थल मस्जिद होता, न कि हिन्दू-देवताओं और हिन्दू-पण्डितों के परस्पर भेट करने का आश्रय-स्थल। प्राचीन हिन्दू-देव-प्रतिमाएँ और बारिनाग का पुनरुद्दरित मन्दिर कभी वहाँ अस्तित्व में आ ही नहीं सकते थे। और भी, बारिनाग का नाम तो न जाने कब का गर्जनकारी अरबी भाषा में बदल दिया गया होता। ये समस्त विचार प्रदर्शित करते हैं कि इस स्थान पर किसी भी प्रकार का निर्माण-कार्य करने के स्थान पर अकबर और जहाँगीर ने तो यहाँ स्थित प्राचीन बारिनाग मन्दिर ध्वस्त किया जिसकी मूक साक्षी विद्यमान सम्पर्ण अभी भी दे रही है।

लिखित बनाम तथ्यात्मक साक्ष्य

हमारा मस्तिष्क एक बात के बारे में भी स्पष्ट होना चाहिए। मैं जिस प्रकार के साक्ष्य प्रस्तुत कर रहा हूँ, हठी इतिहासकार उसका तिरस्कार यह करकर करना चाहेंगे कि मैं तो केवल कपोल-कल्पनाएँ और तर्क-वितर्क कर रहा हूँ। वे तो तथाकथित लिखित साक्ष्य को लिये कौलाहल मचाते रहते

हैं। मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि उसको स्वयं पता नहीं है कि वे क्या विचित्र बात कह रहे हैं। प्रथम तो वे स्वयं इस बात के अपराधी हैं कि उन्होंने केवल सुनी-सुनाई बातों के आधार पर ही, बिना किसी लिखित प्रमाण, यथा श्रम-भुगतान पत्रक, मुद्रित-लेख और दैनंदिन-व्यय के लेखों के अभाव में भी विभिन्न मध्यकालीन स्मारकों का निर्माण-यश विभिन्न मुस्लिम सुलतानों और बादशाहों को दे दिया है। कई बार उनको मुस्लिम शासकों के स्मृति-ग्रन्थों तथा मध्यकालीन मुस्लिम लेखकों के तिथिक्रमवृत्तों में धूर्तता से समाविष्ट अंशों की नगण्य सहायता भी मिली है। ऐसे मुस्लिम लेखक बहुधा बादशाह द्वारा ही नियुक्त किए जाते थे। जिस प्रकार मुझे मालूम है कि उसी प्रकार हमारे समकालीन इतिहासवेताओं को भी भली प्रकार जात है कि इन स्मृति-ग्रन्थों और तिथि-वृत्तों के अनेक मूल पाट उपलब्ध हैं जो परस्पर विरोधी हैं, और उनमें भी किसी-किसी स्मारक का मामूली-सा सन्दर्भ-मात्र दिया गया है। इतिहासवेताओं को यह भी मालूम है कि ये तिथिवृत्त और स्मृति-ग्रन्थ कपोल-कल्पनाओं, अर्ध-सत्य, घोर वक्रोक्ति, दिवास्वप्नों और पाखण्डपूर्ण चापलूसी से भरे दावों के कारण कुख्यात हैं।

वास्तविक जीवन में जब हमारे सम्मुख संदिग्ध लिखित प्रमाण और उसके विरोधी तथ्यात्मक साक्ष्य की समस्या उपस्थित होती है, तब सदैव दूसरी बात का ही महत्त्व होता है। सार्वजनिक स्थान पर पढ़े हुए एक मृतक-पिण्ड का उदाहरण लो। शब के साथ ही एक कागज पर उद्धृत बाब्य से स्पष्ट मालूम होता है कि मृत व्यक्ति ने आत्महत्या की है। वह कागज एक प्रकार से लिखित प्रमाण ही है। किन्तु क्या हमारे 'इतिहासवेता' इसी पर निर्भर रहेंगे और मृत्यु के कारण का पता लगाना अस्वीकार कर देंगे, चाहे उस पिण्ड की पीठ में छुरा ही भोंक रखा हो? इस प्रकार के मामले में ऐसा तथाकथित लिखित प्रमाण निकृष्ट बस्तु समझकर फेंक दिया जाएगा, और उस मृत्यु की पड़ताल हत्या का मामला समझकर ही की जाएगी। यही सिद्धान्त मध्यकालीन स्मारकों पर भी लागू होता है, जो विद्युप हो मृतक

चिष्ठ की भौति पड़े हैं और जिनके पूर्व-वृत्त संदिग्ध हैं। अतः परम्परा से बंधे हुए इतिहासवेताओं को तथाकथित लिखित प्रमाण की अन्यश्रद्धा का सिद्धान्त नहीं अपनाना चाहिए। और जिस प्रकार का साक्ष्य में दे रहा है उससे उत्तेजित हो, रुच न होना चाहिए। उपर्युक्त स्पष्टीकरण उनको विश्वास देतेजित हो, रुच न होना चाहिए। उपर्युक्त स्पष्टीकरण उनको विश्वास दिला सकता है कि मेरे हारा दिया गया साक्ष्य किसी भी न्यायालय में दिला सकता है कि मेरे हारा दिया गया साक्ष्य किसी भी न्यायालय में निरांयक विकर्ष के लिए उन लोगों हारा दिए गए निष्कृच्छ और मनगढ़न्त हल्के उत्तेजितों के मुकाबले में सबल सिद्ध होगा। उन लोगों हारा दिए गए तक पिछलो सारी शताब्दियों से चले आने पर भी निस्सार सिद्ध हुए हैं।

निशात और शालिमार

मेरे सिद्धान्त के लिए पोषक कुछ मूल विचारों की मीमांसा कर चुकने के पश्चात् में अब फिर कश्मीर के कुछ अन्य प्रमुख स्मारकों का वर्णन करूँगा। कश्मीर में निशात और शालिमार नाम से पुकारे जाने वाले दो मनोरम प्रकृति दृश्य-निर्माण उद्यान हैं। इतिहास ने भूल से उनका निर्माण-श्रेष्ठ मुगालों को दिया है। निशात और शालिमार, (शालिमार्ग का अत्यल्प अपभ्रंश) दोनों ही, संस्कृत शब्द हैं। निशात का अर्थ है 'पूर्ण सुव्यवस्थित'। इस प्रकार, यह केवल उद्यानों के लिए ही व्यवहार में लाया जा सकता है। यह कश्मीर में प्रचलित विद्यमान हिन्दू-शैयंनाम भी है जो बहु-प्रतिभाशील एवं सुसम्पन्न परिवार का द्योतक है। शालिमार्ग का अर्थ "साल-(धान) क्षेत्र में से अथवा ऊँचे-ऊँचे शालवृक्षों के पथ से निकाला हुआ पर्वतीय मार्ग है।"

उद्यानों में सभी स्थानों पर निष्पक्षतापूर्वक स्तम्भपीठ का नमूना देखा जा सकता है जो इस बात का आभास देता है कि उद्यान किले-बन्दी में थे और घस्त गनप्रासादों के अंश थे। उनके प्रवेशद्वार, प्राचीरें और कुछ फलकों पर दुर्ग की दीवारों के कुछ भाग अभी भी ढभरे हुए वहाँ विद्यमान हैं। प्रवेशद्वार स्वलंकृत हिन्दू-शैली में हैं। इसके अतिरिक्त, सुदूर आगरा में अपनी शक्ति का केन्द्र रखने वाले मुगाल लोग 700 मील दूर स्थित उद्यानों की सुन्दरता और शौलन मन्द-मन्द व्याप का आनन्दोपभोग करने की किसी

प्रकार कल्पना भी नहीं कर सकते थे। साथ ही, रास्ता भी तो सबन बनों और दुर्गम पर्वतीय प्रदेश से जाता था। उस समय, जैसाकि आज आधुनिक वायु सेवाएँ उपलब्ध होने के पश्चात् भी है, कश्मीर की एक बार यात्रा ही केवल स्वप्नमात्र थी। किसी मुगाल सप्राद का अपनी समस्त सम्पत्ति, सम्बन्धियों और हरम को खुले संभाव्य आक्रमण की उपस्थिति में भी, निशात और शालिमार उद्यानों में कुछ घट्टे शोत्रलता में व्यतीत करने के अनिश्चित सुख के लिए उतनी सैकड़ों मील दूरी पर हाथी की मस्तानी चाल की गति से जाने की कल्पना करता भी परले दर्जे की बेबकूफी है। समस्त जीवन में एक बार ही ऐसा कर पाना सम्भव होता होगा।

राजोचित निझर के द्योतक 'शाही चश्मा' के लिए भी यही तर्क लागू होता है। युगों से चले आ रहे हिन्दू-राजवंशों ने उस निझर का संरक्षण किया था; इसीलिए इसका उर्दू नाम 'शाही चश्मा' तो पुरातन संस्कृत नाम का केवल अनुवादमात्र है।

कश्मीर की प्रसिद्ध झील 'डल' का नाम भी संस्कृत-मूलक ही है। 'डल' का अर्थ पत्ता है और पल्लवगुच्छ का द्योतक है। डल झील में प्रवाहमान उद्यान और इसमें विमुल कमल-राशि वहाँ का स्थायी आकर्षण है—ये 'डल' नाम चरितार्थ करते हैं।

कश्मीर में अन्य अनेक मार्गों के नाम अभी भी शुद्ध संस्कृत में हैं। उदाहरणार्थ (स्वर्ण-मार्ग का द्योतक) सोनमर्ग और गुलमर्ग जो पहले गौरिमार्ग अर्थात् देवी गौरि का मार्ग कहलाता था। 'चन्दनबाड़ी' नाम भी शुद्ध संस्कृत नाम है।

यह सभी लोगों को यह विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त होना चाहिए कि कश्मीर में जितने भी मध्यकालीन स्मारक आज मिलते हैं, वे सभी मुस्लिम-पूर्वकाल के राजपूत शासकों के बनाए हुए हैं। यदि मुस्लिमों ने उनको बनाया होता, तो उन लोगों ने उन स्मारकों के साथ कभी भी संस्कृत नाम न जोड़ा होता। साथ ही, मुस्लिम-दरबार के अभिलेखों में, इन स्मारकों के निर्माण से सम्बद्ध लिखित प्रमाण भी हमें अवश्य ही हाथ लगे होते।

इन इतिहासवेत्ताओं से, जो अभी भी उपर्युक्त तथ्यात्मक साक्ष्य तथा तक्तों को शक्ति और सार्थकता को अमान्य करते हैं, मैं कहना चाहता हूँ कि अच्छा होगा यदि वे स्वयं अपना हृदय टटोलें और बताएं कि कहीं यह उनके ख्यावसायिक कार्य छिन जाने या मुँह न दिखाने की बात तो नहीं है कि जिसके कारण लिखित प्रमाणों के तथाकथित साक्ष्य के अभाव में उनकी सत्य प्रतिभा पर भी पदां पढ़ रहा है। वे स्वयं ही इस तथ्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें कि इस या उस सुल्तान के पक्ष में दिये जाने वाले उनके परम्परागत दावे भी क्या किसी लिखित प्रमाण पर आधारित हैं।

इसके लिए भी कोई कारण नहीं है कि हम लिखित साक्ष्य के अभाववश तथा मुस्लिम तिथिवृत्तों की असत्यता के कारण निराशा और असहायावस्था का प्रदर्शन करें। इस प्रकार की सभी प्रकार की असहायावस्था का प्रकटीकरण हम उस समय तो कभी नहीं करते जब हमें किसी हत्या की जाँच-पढ़ताल करती हो, जाहे उसमें हमें हत्या का कोई भी सुराग हाथ न लगता हो। यह तो दैनंदिन का सामान्य अनुभव है कि इस प्रकार की हत्या के लिए हत्यारों को प्रबल और अकाल्य परिस्थिति-साक्ष्य के आधार पर दण्ड दे दिया जाता है। यह सिद्ध करता है कि जब भी कभी हमारे सम्मुख लिखित प्रमाणों की असत्यता, उनका अभाव या उनका विनाश हो जाने की समस्या आ उपस्थित होती है, तब हम परिस्थिति-साक्ष्य की सहायता से अविकादेय निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। यथार्थतः चौक भारतीय इतिहास के बिद्वानों ने न्यायिक जाँच-पढ़ताल के इस सुदृढ़ और पूर्णरूपेण अनुभूत प्रकार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, इसीलिए भारतीय मध्यकालीन इतिहास असंख्य असंगतियों, परस्पर विरोधी बातों, बेहूदगियों और समस्याओं से भरा पड़ा है।

दिल्ली स्मारक

अनेक शताब्दियों से यह विश्वास दिलाकर, कि दिल्ली के मध्यकालीन स्मारक उनके मुस्लिम-बादशाहों ने बनवाए थे, इतिहासवेत्ताओं और उनके द्वारा सामान्य जनता की अनेक पीढ़ियों को पूर्ण रूप से ठगा गया

है। मुस्लिमों ने ये स्मारक, निश्चित ही, नहीं बनाए थे। सभी स्मारक मुस्लिमपूर्व युग से सम्बन्ध रखते हैं, और दिल्ली के मुस्लिम-पूर्व धर्मजिय राजाओं द्वारा बनाए गए थे। मुस्लिम शासकों और फ़क़ीरों की कब्रों की समेटे हुए मकबरे और दरगाहें भी पूर्वकालिक हिन्दू राजप्रासाद और मन्दिर ही हैं जो छद्मरूप में कब्रिस्तानों में बदल दिए गए हैं।

इन स्मारकों का श्रेय मध्यकालीन मुस्लिम शासकों को देने में, इतिहासवेत्ता कनसुनी बातों या भयंकर भूल करने वाले निटिशों अधिकारियों अथवा अन्य देश-प्रेमी मुस्लिम तिथिवृत्त लेखकों के द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त करते रहे हैं। यदि उन्होंने इन कथनों को परिस्थिति साक्ष्य के आधार पर सत्यापित कर लेने की सामान्य सावधानी भी बरती होती, तो हमें यह घोटाला नहीं मिलता जो सरकारी अभिलेखों और इतिहास के पाठ्य-प्रन्थों में बहुत गहरा घुस चुका है।

दिल्ली-स्थित कुछ प्रमुख स्मारकों की समीक्षा पाठकों को ये ह विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त होनी चाहिए कि ये भवन मुस्लिम-आक्रमणों के प्रारम्भ होने से पूर्व भी विद्यमान थे। तथ्य यह है कि जो स्मारक आज हम देख पाते हैं वे तो उस बिपुल स्थापत्य कला की विशाल सम्पत्ति के लेशमान अंश हैं जो भारत में मुस्लिमों आक्रमणों से पूर्व अस्तित्व में थे। तथ्य रूप में इन अति भव्य भवनों और मन्दिरों की विपुलता ही आक्रमणकारियों के लिए एक बहुत बड़ा आकर्षण रही थी।

लाल-किला

आइए, हम लाल-किले से अपना समालोचनात्मक अध्ययन प्रारम्भ करें। 'पृथ्वीराज रासो' नामक समकालीन ग्रन्थ से हमें जात होता है कि पृथ्वीराज यमुना नदी के तट पर बने एक राजमहल में रहता था। परम्परागत हमें आज दिल्ली के एकमात्र उस भवन से मिलता है जो आज लाल-किला

जाहलाता है। और आज फिर भी मुगल बादशाह शाहजहाँ को दिल्ली का लाल-किला जानने का सम्पूर्ण यश व्यर्थ में दिया जा रहा है।

शाहजहाँ से लगभग 250 वर्ष पूर्व सन् 1398 में दिल्ली-निवासियों का नर-संहार करने वाले तैमूरलंग ने पुतानी दिल्ली का ठल्लेख किया है। और फिर भी हमारे इतिहास-ग्रन्थों में पुरानी दिल्ली का वर्णन उस नगरी के रूप में आता है जिसकी स्थापना शाहजहाँ ने की थी। दिल्ली में लाल-किला रूप में आता है जिसकी स्थापना शाहजहाँ ने की थी। दिल्ली में लाल-किला पुरानी दिल्ली का नाभीय-स्थल है। तथ्य रूप में, पुरानी दिल्ली धुरीय-पुतानी दिल्ली को नाभीय-स्थल है। तथ्य रूप में, पुरानी दिल्ली धुरीय-पुतानी दिल्ली के हिन्दू-शासकों के आज फ़तहपुरी मस्जिद कहलाता है किन्तु जो दिल्ली के हिन्दू-शासकों के कुल-देवता का मन्दिर था—के चारों ओर बसी है। इस प्रकार, शाहजहाँ से 400 वर्ष पूर्व भी, लाल-किले और अपने प्रमुख बाजार चौंदनी चौक सहित पुतानी दिल्ली निश्चित रूप में ही अस्तित्व में थी।

किले के पिछले भाग में प्रवाहित यमुना-तट राजघाट पुकारा जाता है। यह संस्कृत शब्द है। यह अभी तक प्रचलित न रहता यदि राजाओं की अनेक योद्धियों ने शाहजहाँ और उसके अनुवर्ती मुस्लिमों से पूर्व लाल-किले में आवास न रखा होता। मुगलवंश के पाँचवें बादशाह शाहजहाँ के पश्चात् किसी भी राजा ने लाल-किले से देश में शासन नहीं किया। यदि शाहजहाँ ने किला बनाया होता, तो पिछली ओर यमुना का तट राजघाट न कहलाकर बादशाह घाट के नाम से पुकारा गया होता।

किले के एक ह्वार पर बाहर को ओर एक हाथी की मूर्ति चित्रित है। इस्लाम किसी भी प्रकार का मूर्तिकरण कठोरतापूर्वक मना करता है, जबकि राजपूत सप्तांगों के प्रति अपने प्रेम के लिए सुविख्यात हैं।

किले की मेहरबों के दोनों ओर प्रस्तर-पुष्टक लक्षण हैं जो सधी मध्य-कालीन हिन्दू भवनों पर दृष्टव्य हैं।

प्रवाहमान जल प्रवाहिकाएँ, जिनमें से यमुना का जल सम्पूर्ण किले में कलाकल-निनाद करता बहता था, फिर राजपूत-निर्माण की पुष्टि करते हैं क्योंकि रेगिस्तानी परम्परा वाले मुस्लिमों ने प्रवाहमान जल प्रवाहिकाओं की

कभी कल्पना भी न की होगी।

श्रावण-भादों दर्शक-मण्डप एवं दीवाने खास में केशर-कुण्ड फिर हिन्दू शब्दावली है। राजपूत क्षत्रीय शासक केशर-जल से स्नान करते थे। साथ के कमरे के फर्श पर हिन्दुओं में पूज्य कमल पुष्ट बना है।

दीवानेखास और दीवानेआम में एक भी गुम्बद या मीनार नहीं है, जिस पर मुस्लिम सदैव बल देते रहे। दीवानेआम की संगमरमरी व्यास पीठ में, जिस पर बादशाह बैठा करता था, मन्दिर के प्रकार की छत है जिसके निच्यावाशम प्रकार के दो सिरे त्रियक् रूप में लुड़े हुए हैं। दीवानेखास में अम्बर (पुराना जयपुर) के भीतर के राजोचित भाग से अत्यधिक विस्मयकारी समानता है। अम्बर (आमेर) राजपूतों द्वारा मुस्लिम-पूर्व काल में बनाया गया था।

'सृति-ग्रन्थों' एवं तिथिवृत्तों के उल्लेखानुसार प्रत्येक मुगल शासक का 5000 स्त्रियों का हरम होता था। वे सब, स्वयं शासक और उनके अनेक बाल-बच्चे किसी भी प्रकार कल्पना किए जाने पर दीवानेखास से संलग्न दो-तीन कमरों में समा ही नहीं सकते थे।

दीवाने-खास के निकट संगमरमर के जंगले पर राजा की न्याय-तुला का चित्र अंकित है। अपनी प्रजा के 99 प्रतिशत भाग को नीच व्यक्ति समझाने वाले मुगल शासक अपने राजमहल में न्याय के उस चिह्न को अंकित करने की कभी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। किन्तु द्वार्घणों द्वारा उपदेशित राजपूत शासक अवश्य ही न्याय-तुला के चित्र से प्रेरणा लेकर न्याय प्रदान करना अपना एक प्रमुख कर्तव्य समझा करते थे।

दीवाने-खास और दीवाने-आम में मण्डप शैली की अलंकृत हिन्दू कलाकृति है। इसके अतिरिक्त, दीवाने-खास सन् 984 ई० के आस-पास निर्मित अम्बर (आमेर—पुराना जयपुर) के भीतरी महल से अत्यधिक मिलता-जुलता है।

दीवाने-खास की एक दीवार पर खुदी हुई फ़ारसी की पंक्तियों में लिखा है कि यह स्थान 'पृथ्वी पर स्वर्ग' है। इस प्रकार की ढाँग के बल

बलात् अधिग्रहण करने वाला ही हौक सकता था। यदि शाहजहाँ इस भवन का मूल निर्माता रहा होता, तो वह कभी भी इस प्रकार अतिशयोवितपूर्ण शब्दावली में वर्णन न करता। मूल निर्माता तो प्रायः रचना के सम्बन्ध में संकोचशोल होता है। और भी बढ़कर बात यह है कि भवन के दोषों के सम्बन्ध में निर्माता इतना सजग होता है कि वह कभी भी ऐसे निर्माण को 'पूर्खी पर स्वर्ग' कहने की कल्पना कर ही नहीं सकता।

लाल-किले से आगे बढ़ने पर, केवल कुछ गजा की दूरी पर, हम देखते हैं कि निकटतम दोनों देवालय गैर-मुस्लिमों के ही हैं। इनमें से एक लाल-जैन-मन्दिर और दूसरा गौरीशंकर मंदिर हैं। यदि शाहजहाँ ने लाल-किला बनाया होता तो वह कभी भी इन दोनों गैर-मुस्लिमों के देवालयों को बने रहने की अनुमति न देता। ये दोनों मन्दिर इन स्थानों पर इसीलिए हैं कि शाहजहाँ से शताव्दियों पूर्व गजपूतों ने यह लाल-किला बनवाया था।

लाल-किले से निकलता हुआ मुख्य बाजार चाँदनी चौक मूल रूप में केवल हिन्दुओं से ही विरा हुआ है। यदि मुगलों ने यह किला बनवाया होता तो चाँदनी चौक में तुक्रों, अफगानों, फ्रारसी लोगों, अरबों, अबीसीनियों, हिन्दू धर्म-परिवर्तितों के ही आवास होते, हिन्दुओं के नहीं।

समस्त पुरानी दिल्ली की जनसंख्या अधिकांशतः हिन्दू ही है। इसकी सत्तिष्ठ एवं धुमावदार गलियों में मकान भी परम्परागत हिन्दू-शैली में ही बने हुए हैं। यह मानना बेहदी बात है कि शाहजहाँ जैसे क्रूर धर्मान्ध्य व्यक्ति के हिन्दुओं के लिए मकान बनवाए और समस्त नगर की विशाल दीवार में किलेबन्दी को। जैसाकि तैमूरलंग की आत्मकथा में कहा गया है, पुरानी दिल्ली शाहजहाँ से शताव्दियों पूर्व अस्तित्व में थी।

इनमें विपुल प्रमाणों के विश्लेषण, यदि शाहजहाँ के स्मृतिग्रन्थों के अस्त्वय विरोधी तथा मनषड़न्त रूपान्तरों में शाहजहाँ द्वारा किसी किले या नगर की स्थापना के स्थल में सन्दर्भ मिल जाएँ तो इतिहासवेत्ताओं को तुरन्त ही इस दावे को निरापार और अग्रामाणिक घोषित कर देना चाहिए।

मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासवृत्तों में 'अरेबियन नाइट्स' की गत्य

आती है। वै तिथिवृत्त सार्वभीमाधिकारी या संरक्षक सरदार का मनोविनोद करने और उनका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए लिखे गए परियों के कथानक हैं तथा पूर्णतः काल्पनिक हैं। रात्रि में शयन-पूर्व बच्चों को बिस्तरे पर लेटे-लेटे कहानियाँ सुनाते समय जैसे किसी भव्य जादू-महल की सामग्री की कल्पना हम स्वयं ही करने लगते हैं, वैसे ही ये तिथिवृत्त भी कल्पनापूरित हैं। मुस्लिम बादशाहों के स्मृति-ग्रन्थों पर टीका करते हुए सर एच०एम० इलियट और प्रोफेसर जॉन डॉसन ने बार-बार सावधान किया है कि उन स्मृति-ग्रन्थों में उन सभी बातों का समावेश है जो उस बादशाह या चान्दकार लेखक ने बिचारा कि अमुक-अमुक आत सार्वजनिक जानकारी में आनी ही चाहिए। मध्यकालीन मुस्लिम तिथिवृत्तों की अपनी अष्ट-खण्डीय समीक्षा में स्वर्गीय सर एच० एम० इलियट ने लिखा है कि भारत में मुस्लिम काल का इतिहास 'निर्लज्जापूर्वक किया गया रोचक कपटजाल है।'

दिल्ली के अगणित स्मारकों के सम्बन्ध में ध्यान रखने वाली एक विचित्र बात यह है कि इतने सारे मकबरे और दरगाहें हैं किन्तु उन्हीं के अनुरूप महल नहीं हैं। हमें हुमायूँ का मकबरा, खानखाना का मकबरा, नजफखान का मकबरा, लोदी का मकबरा, अलाउद्दीन खिलजी का मकबरा, सफदरजंग का मकबरा, बरिजायर काकी का मकबरा, निजामुद्दीन का मकबरा और ऐसे ही अन्य मकबरे मिलते हैं।

इतिहास के सभी विद्यार्थी भली-भांति जानते हैं कि मुस्लिम उत्तराधिकार-ग्रहण करने के लिए भ्रातृघातक और पितृघातक रक्तपात सदैव हुआ है। इस प्रकार की परिस्थिति में क्या यह कल्पना भी की जा सकती है कि अपने पूर्ववर्ती के लहू का आजीवन प्यासा रहने वाला अनुवर्ती अपने धृण्य पूर्ववर्ती की मृत्यु के पश्चात् भव्य मकबरा बनवाएगा? और क्या ऐसा भी सम्भव हो सकता था कि जो आदमी आजीवन अपने और अपने बाल-बच्चों के लिए कोई महल न बनाए, वही आदमी अपने पूर्ववर्ती के लिए भव्य महल बनाए और इसी क्रमानुसार उसको भी अपनी मृत्यु के पश्चात् एक भव्य मकबरा अपने अनुवर्ती द्वारा मकबरे के रूप में प्रयोग करने के लिए

मिल जाए? क्या उनके मध्य मकबरा-निर्माण का कोई समझौता हो गया था। अपने मृतक पूर्वज के लिए भव्य मकबरा बनाने की सोचने से पूर्व सिहासनारूढ़ बादशाह अपने और अपने बाल-बच्चों के लिए सैकड़ों महल बनवाएगा। इन दोनों विचारों से इतिहास के किसी भी विद्यार्थी को समझ में बनवाएगा। इन दोनों विचारों से इतिहास के किसी भी विद्यार्थी को समझ में बनवाएगा। इन दोनों विचारों से इतिहास के किसी भी विद्यार्थी को समझ में बनवाएगा। इन दोनों विचारों से इतिहास के किसी भी विद्यार्थी को समझ में बनवाएगा। इन दोनों विचारों से इतिहास के किसी भी विद्यार्थी को समझ में बनवाएगा। इन दोनों विचारों से इतिहास के किसी भी विद्यार्थी को समझ में बनवाएगा।

तथाकथित कुतुबमीनार

कुतुबमीनार के सन्ध्य में भी पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे सिद्ध होता है कि कुतुबमीनार एक ऐसा हिन्दू-स्तम्भ है जो कुतुबुदीन से सैकड़ों वर्ष पूर्व भी विद्यमान था, और इसलिए इस स्तम्भ का निर्माण-श्रेय कुतुबुदीन को देना गलत है।

कुतुबमीनार के पाश्व में बसी हुई नगरी महरौली कहलाती है। यह संस्कृत शब्द 'मिहिरावली' है। यह उस नगरी का द्योतक है जहाँ सप्तरात्मक विक्रमादित्य के दरबार का विश्वविख्यात ज्योतिषी मिहिर अपने सहायकों, गणितज्ञों और तकनीक विशेषज्ञों के साथ रहा करता था। वे इस तथाकथित-कुतुबमीनार का उपयोग नक्षत्र-विद्याध्ययन के लिए वेद-स्तम्भ के रूप में किया करते थे। इस स्तम्भ के चारों ओर हिन्दू राशिमण्डल के 27 तारकमुञ्जों के मण्डल बने हुए थे।

कुतुबुदीन एक ऐसा उत्कीर्ण अंश छोड़ गया है जिसके अनुसार उसने इन 27 मण्डणों को ध्वस्त किया। किन्तु उसने ऐसा कहीं नहीं कहा कि उसने किसी स्तम्भ का निर्माण भी किया था।

इस तथाकथित कुतुबमीना से वि-स्थान हुए पत्थरों की एक ओर हिन्दू-देवमूर्तियों और दूसरी ओर अरबी के अक्षर खुदे हुए हैं। उन पत्थरों को अब संग्रहालय में ले जाया गया है। यह स्पष्ट रूप में दर्शाता है कि मुस्लिम आक्रमणकारी लोग हिन्दू भवनों को प्रस्तर-सज्जा को हटाकर उसके ऊपर

अंकित चिन्हादि को भीतर की ओर मोड़कर, बाहर की ओर दिखाने वाले अंश पर अरबी भाषा के अक्षरों की खुदाई कर दिया करते थे।

अनेक खाम्बों और दीवारों पर संस्कृत शब्दावली अभी भी परिलक्षित की जा सकती है। यद्यपि विद्रूप हो चुकी है तथापि भित्ति-शृंग में अभी भी अनेक देवमूर्तियाँ शोभायमान हैं।

यह स्तम्भ चहुं और की गई निर्माण-संरचनाओं का एक अंश निश्चित रूप में ही है। ऐसी बात नहीं है कि पूर्वकालिक हिन्दू-भवनों के बीच में पर्याप्त खुला स्थान इसलिए था कि कुतुबुदीन आए और एक स्तम्भ बनाए। इसकी दर्शनीय अलंकरण हिन्दू शैली सिद्ध करती है कि यह एक हिन्दू-स्तम्भ है। मस्जिद की मीनारों का धरातल सपाट होता है। जो लोग यह तर्क देते हैं कि इस स्तम्भ की रचना तो मुस्लिम निवासियों को प्रार्थना के लिए बुलाने के उद्देश्य से आवाज देने के लिए हुई थी, उन लोगों ने कदाचित् ऊपर जाकर नीचे खड़े व्यक्तियों को पुकारने का भी प्रयत्न किया हो, ऐसा लगता नहीं। यदि उन्होंने ऐसा किया होता, तो उनको स्वयं ही ज्ञात हो जाता कि उस ऊँचाई से कोई भी व्यक्ति, जो पृथ्वी पर खड़ा हो, वह शब्द सुन ही नहीं सकता। पूर्वकालिक हिन्दू-भवनों को मुस्लिम-निर्माण-कृति ठहराने के लिए ऐसे बेहूदा दावे किए जा रहे हैं।

एक अन्य महत्वपूर्ण विचारणीय बात यह है कि स्तम्भ का प्रवेश-द्वार उत्तर की ओर है न कि पश्चिम की ओर जैसाकि इस्लामी मान्यता और अभ्यासानुसार आवश्यक रहा है।

प्रवेश-द्वार के दोनों ओर ही प्रस्तुत पुष्प-चिह्न हैं; ये भी सिद्ध करते हैं कि यह हिन्दू-भवन है। मध्यकालीन भवनों की हिन्दू-निर्माण संरचना में प्रस्तर पुष्पों की विद्यमानता एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लक्षण है। अपनी बनाई हुई इमारतों में मुस्लिम लोग ऐसे पुष्प कभी नहीं रखते।

स्तम्भ के ऊपर कार्निस के ढीक नीचे के भाग में नमूनों पर तोड़फोड़, अकस्मात् समाप्त करने अथवा असंगत पंक्तियों को असम्बद्ध रूप में मिला देने के स्पष्ट चिह्न हैं। अरबी-शब्दावली क्षतिग्रस्त अधोपुखी कमल

की कलियों से अन्तःकीर्णित है। कदंब मुस्लिम और विद्वान् सर सैयद अहमद खान ने स्वीकार किया है कि यह स्तम्भ हिन्दू-भवन है।

पश्चिमस्थ तथाकथित कुबत-उल-इस्लाम का मेहराबयुक्त प्रवेशद्वार गुजरात के मन्दिरों के अलंकृत मेहराबों से युक्त छारों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। इस भवन के स्तम्भ के ऊपर कार्निस के ठीक नीचे के भाग में नमूनों में भी तोड़-फोड़ के चिह्न स्पष्ट हैं जो सिद्ध करते हैं कि पूर्वकालीन मन्दिरों को मुस्लिमों के उपयोग में लाने के लिए मस्जिदों का रूप देने में पश्चिम की इधर-उधर करने में मुस्लिम शासकों को बड़ी हार्दिक शान्ति मिलती थी।

स्तम्भ का घेरा ठोक 27 मोड़ों, चारों ओर त्रिकोणों का है। ये एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, तीसरे के बाद पहला—इस क्रम से हैं। यह प्रकट करता है कि इस क्षेत्र में 27 के अंक का विशेष महत्व तथा उसकी प्रधानता रही है। पहिले ही वर्णित 27 तारकपुंजों के मण्डपों के साथ इस पर विचारोपरान्त कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता कि यह स्तम्भ भी नक्षत्रीय वैधस्तम्भ ही था।

'कुतुबमीनार' अरबी शब्द नक्षत्रीय (वैधशास्त्र) स्तम्भ का द्योतक है। सुल्तान कुतुबुद्दीन से इसको सम्बद्ध करने और दरवारी पत्राचार में इसके नामाल्लोख की यही कहानी है। समय व्यतीत होते-होते कुतुब-स्तम्भ के साथ कुतुबुद्दीन का नाम अनायास ही संलग्न हो गया, जिसने यह भ्रम उत्पन्न कर दिया कि कुतुबुद्दीन ने कुतुबमीनार बनवाई।

स्तम्भ की संरचना में शिलाखण्डों को दृढ़ता से एक स्थल पर रखने के लिए लौह-पट्टियाँ प्रयुक्त की गई हैं। आगरा-दुर्ग की प्रस्तर-प्राचीरों में भी इसी प्रकार की लौह-पट्टियाँ प्रयुक्त हुई हैं। अपनी पुस्तक 'ताजमहल राजपूती राजप्रासाद था' में मैंने किले के मूल के सम्बन्ध में विशद विवरण प्रस्तुत किया है और यह सिद्ध किया है कि यह मुस्लिम-पूर्व काल में भी विद्यमान था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बड़े-बड़े भवनों में विशाल शिलाखण्डों को सुट्टियापूर्वक एकत्र रखने के लिए हिन्दू लौह-पट्टियाँ

उपयोग में लाना हिन्दू प्राकार था। उस प्राकार का दिल्ली की तथाकथित कुतुबमीनार में उपयोग होना इस स्तम्भ को मुस्लिम-पूर्वकाल का सिद्ध करने वाला एक अन्य प्रमाण है।

निजामुद्दीन दरगाह

जिसे आज फ़क़ीर निजामुद्दीन की दरगाह समझा जाता है, यह बास्तव में एक पुराना मन्दिर है, जो मुस्लिम आक्रमणों में क्षतिग्रस्त हो जाने के बाद हजारत निजामुद्दीन की दरगाह बन गया, क्योंकि उस फ़क़ीर को उसकी मृत्यु के पश्चात् वहीं दफ़ना दिया गया था।

इस दरगाह के चारों ओर अगणित मात्रा में अन्य मण्डप, प्राचीरें, कर्वे, दुर्ग की दीवार के उभड़े हुए भाग, स्तम्भपीठें अभी भी देखी जा सकती हैं। ये बस्तुएँ सिद्ध करती हैं कि यह किसी समय समृद्ध नगरी थी जो पदाक्रान्त हुई और विजित हुई। ऐसे तहस-नहस किए गए क्षेत्रों में मुस्लिम फ़क़ीर जा बसते थे। बाद में उनको वहीं गाड़ दिया जाता था, जहाँ वे रहते रहे थे। इस प्रकार मुस्लिम फ़क़ीरों को दफ़नाने के स्थान मूल कलिम्बान नहीं हैं, अपितु वे पूर्वकालीन राजपूत भवन हैं जो बाद में मुसलमानों द्वारा बलात् इधिया लिये गए।

हुमायूँ का मकबरा

इह दिल्ली में तथाकथित 'हुमायूँ का मकबरा' ऊपर वर्णित विशाल नगरी का अंश था। यह उस नगरी का केन्द्रीय राजप्रासाद था। आजकल भी यह उस भाग का अंश है जिसे नवी दिल्ली स्थित जयपुर-राजसम्पत्ति कहा जाता है। आज अरब-की-सराय नाम से पुकारा जाने वाला भाग तथाकथित जयपुरी हुमायूँ के मकबरे के चाहुं ओर विशाल सुरक्षात्मक संरचना थी। हुमायूँ वहीं रहा करता था। पुराने किले स्थित तथाकथित शेर-मण्डल की सीढ़ियों से जब गिर पड़ा, तो उसे इसी स्थान पर लाया गया जो केवल आधा मील दूरी पर था। अपनी मृत्यु तक वह इसी राजप्रासाद में पड़ा रहा। जैसा उन दिनों

का नित्यप्रति का अभ्यास था, उसे उसी राजप्रासाद में दफना दिया गया, जिसमें वह रहता था।

फिरोजशाह कोटला

दिल्ली-द्वार के सम्मुख क्रोड़ा-प्रांगण के निकट एक प्राचीन किलेबन्दी में एक चस्ती है जिसे फिरोजशाह कोटला कहा जाता है। इसके नाममात्र से ही, भूल से यह मान लिया गया कि अपने महल के रूप में इसका निर्माण फिरोजशाह तुगलक ने किया था। किन्तु उनकी ऊपरी मंजिल में एक अशोक-स्तम्भ दृढ़तापूर्वक गढ़ा हुआ है। अपने कूर स्वभाव के लिए फिरोजशाह पहिले ही कुछ्यात था। वह 'हिन्दू' नाम की किसी भी बात को सहन नहीं कर सकता था। इतिहास में डल्लोख है कि मूर्तिपूजा के अपराधियों को वह जीवित जला दिया करता था। यह विश्वास करना नितान्त तर्कहीन है कि इस प्रकार का शासक स्वयं अपनी ही इच्छा से, अपने ही राजमहल में हिन्दू धर्मोपदेशों से उत्कीर्ण एक अशोक-स्तम्भ गढ़वा लेगा। इसकी छाया में फिरोजशाह को कभी नींद आ ही नहीं सकती थी। तथ्य यह है कि स्तम्भ का कठा हुआ शीर्ष भाग दर्शाता है कि अपने धर्मान्ध रोष में फिरोजशाह ने इस स्तम्भ को ढखाड़ फेंकने का यत्न अवश्य किया होगा। किन्तु स्पष्ट है कि इससे समस्त महल ही नष्ट हो गया होता और इस महल की छत के निचले भाग में एक बहुत बड़ा छेद बन जाता। हताश हो, उसे इसी ऊंचा सिर किए काफिर-स्तम्भ सहित महल में रहना पड़ा जो उसे अस्थिरता, विद्रोह और अनवरत संघर्ष के दिनों में एक उपयुक्त स्थान प्रतीत हुआ।

उसके शासन का एक अतिरंजित वर्णन शाम्से-शीराज़ा-अफ़्रीफ़-नामक, स्वयं नियुक्त, एक चाटुकर तिथि-वृत्तकार ने लिखा है। वह स्वीकार करता है कि उसका पितामह फ़िरोज़शाह का समकालीन था। अफ़्रीबाहें फ़ैलाने वालों के नित्याभ्यास की ही भाँति वह भी कल्पित और अतिरंजित वर्णनों के लिए बिन अधिकारिक लोगों का उल्लेख करता है उनमें “मेरे पिता ने मुझे बताया” अथवा सुविज्ञ इतिहासज्ञों के आधार पर मैं कहता

हूँ...." आदि अनेक वाक्य भरे पढ़े हैं। उस तिथिवृत्त में वह कल्पना करते हुए वर्णन करता है कि किस प्रकार दिल्ली से अति दूरस्थ स्थान पर प्राप्त इन दो अशोक-स्तम्भों को उखाड़कर और सैकड़ों गाड़ियों और हजारों मगादूरों को नियुक्त कर इन सबको दिल्ली तक ढोने का कठोर परिश्रम फिरोजशाह ने किया। दिल्ली में अपने महल में एक काफिर-स्तम्भ को गढ़वाने का क्षमा प्रयोजन था, यह तो केवल खुदा को ही मालूम है। स्पष्टतः यह वर्णन इस तथ्य को झुठलाने का एक यत्न है कि फिरोजशाह को अपने निवासस्थान के लिए वह भवन चुनना पड़ा जिसमें अशोक-स्तम्भ गढ़ा हुआ था। अतः यह स्पष्ट है कि या तो स्वयं महाराजा अशोक ने मूल रूप में यह महल बनवाया जो आज छद्मरूप में कोमलकान्त पदावली में फिरोजशाह कोटला कहलाता है, अथवा अशोक के ऊपर स्वाभिमान अनुभव करने वाला कोई परवत्ती क्षत्रिय सप्राद् उस स्तम्भ को उखाड़वाकर दिल्ली ले आया और उसने अपने महल में उस स्तम्भ को स्थापित करवा लिया। बाद में जब फिरोजशाह ने दिल्ली में शासन किया तब उसने उसी महल को, उन संघर्षमय दिनों में कदाचित् सभी स्थानों से बढ़िया आकार का प्राप्त कर, अपना निवास स्थान बना लिया। उसके तिथिवृत्तकार अफ़्रीफ ने, इस तथ्य का कोई स्पष्टीकरण न पाकर कि फिरोजशाह ने एक बलात् अधिगृहीत भवन में निवास किया, इस ध्रम की सृष्टि कर दी कि यह तो फिरोजशाह ही था जो उस स्तम्भ को दूर से लाया और जिसने उसको अपने महल में गढ़वाया था।

लोधी मकाबरे

इतिहासकारों और वास्तुकलाविदों की दृष्टि से ओझल हो जाने वाली भयंकर विसंगतियों का एक डदाहरण दिल्ली के लोधी मकबरे है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ने भी कभी यह प्रश्न पूछने की चिन्ता नहीं की कि मृत शासकों के भव्य मकबरे आज क्यों कर उपलब्ध हैं, जबकि उन्हीं के अनुरूप, शासनकर्ता लोधी शासकों के ऐश्वर्यशाली और विशाल राजमहल कहाँ भी नहीं मिलते? यदि इतिहासकारों और वास्तुकलाविदों ने कभी यह

प्रश्न स्वयं की अन्तराला से किया होता, तो उनको इस प्रश्न का पूर्ण प्रश्न स्वयं की अन्तराला से किया होता, तो उनको इस प्रश्न का पूर्ण प्रश्न स्वयं की अन्तराला से किया होता। तथ्य यह है कि तथाकथित मकबरे पुराने समाधान प्राप्त हो गया होता। तथ्य यह है कि तथाकथित मकबरे पुराने राजपूतों भवन हैं जिनको बाद में मृतक-स्थानों (मकबरों आदि) में बदल दिया गया।

रोशन आरा मकबरा

दूसरा डदाहरण दिल्ली में रोशन आरा मकबरे का है। स्थूल रूप से दृष्टिपात करने पर ही विश्वास हो जाएगा कि यह एक राजपूती संरचना है जिसे अपनी मृत-पुत्री को दफनाने के लिए औरंगजेब ने बलात् छीन लिया। इसके कलात्मक रूप में खुदे हुए स्तम्भ तथा किसी भी प्रकार की गुम्बदों अथवा मौनारों से विहीन विशाल खुले मण्डप सभी प्रकार आँखें खोलने वाले हैं। इस सम्बन्ध में औरंगजेब का विशिष्ट चरित्र भी ध्यान रखना चाहिए। वह अति कृपण और निर्मम रूप में पापाण हृदय व्यक्ति था। उसने अपने पिता को कारबास में रखा, राजसिंहासन दबदर्स्ती हथिया लिया और निष्ठुरतापूर्वक अपने भाइयों को मार डाला। हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार सर्वाधिक निष्ठुरतापूर्ण था। ऐसा बादशाह अपनी पुत्री के लिए हिन्दू-रचना-गैलो का मकबरा कभी नहीं बनवा सकता, और इसीलिए रोशन आरा मकबरा एक राजपूती मण्डप है जो मकबरे में बदल दिया गया है।

निजामुद्दीन

दिल्ली में निजामुद्दीन का मकबरा कहलाने वाली इमारत का एक अपहृत हिन्दू मन्दिर है। इस पर पंचरत्न के पाँच मुंबज हैं। हिन्दुओं में गाँव के पंच, पंचामृत, पंचगव्य आदि बाकप्रचार से पाँच का महत्व जाना जा सकता है। इमारत गोराएँ रंग के पत्थर की बनी है जो हिन्दू ध्वज का रंग है। अन्दर एक विशाल बाघड़ी है। उसके तले में वे हिन्दू मूर्तियाँ पढ़ी मिलेंगी जो इमलामी इमलावर्गों ने मन्दिर से ढाका ढ़कर उसमें फिकवा दीं। पांडियों से उस इमारत से संलग्न फक्कोर, मुल्ला, मुजाबर आदि तथाकथित मुसलमानों

को यह समझ लेना चाहिए कि उनके दार्द-परदार्द उसी मन्दिर के पूजारों आदि हिन्दू कर्मचारी रहे हैं जिसे वे आज निजामुद्दीन की कब्र समझ रहे हैं। यदि जीवित निजामुद्दीन का कोई महल नहीं था तो निजामुद्दीन के मृत शरीर के लिए महल कौन बनाएगा?

आगरा-रिथ्त स्मारक

ताजमहल

इस प्रचलित धारणा के पक्ष में, कि ताजमहल शाहजहाँ ने बनवाया था, हमें केवल तीन कारण मिलते हैं। उनमें भी कुछ विशिष्ट सन्देह विद्यमान था—

(1) हम मानते हैं कि ताज के केन्द्रीय कक्ष में दो मूरतों को मृद्राशियाँ हैं जो मुस्लिम कब्रों जैसी दिखाई देती हैं, और पूर्ण संभावना है कि वे दोनों स्वयं शाहजहाँ की और उसकी हजारों रखेलों में से एक मुमताज महल की हो। इतना स्वीकार कर लेने के बाद हम अपनी आपत्तियों पर विचार करेंगे। यह सर्वविदित है कि इस प्रकार की अनेक मृद्राशियाँ केवल ढाँग-मात्र हैं। इस प्रकार की मृद्राशियाँ अनेक बार ऐतिहासिक भवनों के उन समतल टीलों पर भी पाई गई हैं, जहाँ किसी भी प्रकार, किसी भी मृत व्यक्ति को गाढ़ना सम्भव ही नहीं था। दूसरा सन्देह यह है कि मुमताज को दफनाने की कोई निश्चित तिथि उपलब्ध न होने के कारण अत्यधिक सम्भव है कि वह इस ताजमहल में गाढ़ी ही न गई हो। उसको दफनाने की अवधि उसकी मत्युपरान्त छः मास से नौ वर्ष के मध्य कही जाती है। जिसके उपरिपंड के लिए ताजमहल जैसा भव्य स्मारक बना कहा जाता हो, उसकी दफन-तिथि के सम्बन्ध में इस प्रकार की अनिश्चितता अत्यधिक संशयकारी है। औरंगजेब के काल में 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' की सेवा में नियुक्त मनूसी नामक एक अधिकारी ने लिखा है कि अकबर का मकबरा खाली है।

इसलिए कौन कह सकता है कि मुमताज का काल्पनिक मकबरा भी खाली न हो ? इस प्रकार की प्रबल आपत्तियाँ होने पर भी, हम यह मानने को तैयार हैं कि ये दो कब्रें मुमताज और शाहजहाँ की हो सकती हैं।

(2) परम्परागत ताज-कथा के पक्ष में दूसरी बात यह हो सकती है कि कब्रों तथा कुछ मेहराबों पर कुरान के पाठ उत्कीर्ण हैं। इस सम्बन्ध में हमारी प्रबल आपत्ति यह है कि अजमेर-स्थित अदाई दिन का झोपड़ा और दिल्ली की तथाकथित कुतुबमीनार दोनों के ही बाह्य-भागों पर इस प्रकार के उत्कीर्णश उपलब्ध हैं, किन्तु वे तो छद्ररूप माने ही जाते हैं। अतः ताज पर खुदाई-कार्य का केवल संशयात्मक-मूल्य ही है।

(3) प्रचलित वर्णन—कि शाहजहाँ ने ताजमहल बनवाया—के पक्ष में तीसरी बात यह है कि मुल्ला अब्दुल हमीद लाहौरी जैसे कुछ तिथिवृत्तकारों ने अपने ग्रन्थों में ताज-निर्माण का उल्लेख किया है। इस विषय में हमारी आपत्तियाँ अनेक हैं। मुल्ला अब्दुल हमीद जैसे तिथिवृत्तकार प्रणय: ऐसे व्यक्ति थे जो कूर धर्मान्य व्यक्तियों की सेवा में रहते हुए उनकी चापलूसी और उनका मनोरंजन करते हुए अपनी आजीविकोपार्जन करने में हचिर रखते थे। दूसरी बात यह है कि यह अभिलेख उपलब्ध है कि मुल्ला अब्दुल हमीद को शाहजहाँ का यह विशिष्ट अनुदेश मिला था कि उसके हारा आदेशित तिथिवृत्त में वह ताज-निर्माण (?) का वर्णन करना न भूले। यह तो सुविदित ही है कि शाहजहाँ का स्वभाव इन्हे अभिलेख बनादेने का था, जैसे कि उसने अपने पिता की मृत्यु के तीन वर्ष बाद शूटा जहाँगीरनामा बना दिया था। ताज को देखभाल करने वालों के पास उपलब्ध “तारीख-ताजमहल” नामक दस्तावेज को भी कौन ने बल देकर जाली अभिलेख कहा है। अब्दुल हमीद के तिथिवृत्त को पूर्ण निरर्थकता उसके अपने अनुक्रम हारा मिल हो जाती है। उसके हारा रूप-रेखांकनकार का नामोल्लेख न होने के कारण परवर्ती इतिहासकारों ने ऊल-जलूल अन्दाजे लगाए हैं। मुल्ला अब्दुल हमीद ताज का मूल्य 50 लाख रुपये औंकता है, जिस गिरि का उपहास इतिहास के सभी निष्क्रिय विद्यार्थी करते हैं। मुल्ला

अब्दुल हमीद के तिथिवृत्त में इस प्रकार न जाने कितनी विसंगतियाँ प्राप्त हैं। यह इस तथ्य का एक सुन्दर उदाहरण है कि मनमादन बातों में उनका भंडाफोड़ करने वाले छिद्र रह ही जाते हैं।

परम्परागत ताज-वर्णन के पक्ष में दिए जाने वाले अपर्याप्त तीनों प्रमाणों को भी अत्यन्त अविश्वसनीय मानने योग्य विवेचन कर लेने के पश्चात् अब हम उन प्रबल प्रमाणों का विवेचन करेंगे जो यह सिद्ध करते हैं कि ताजमहल सत्य-रूप में वही है जो इसके नाम से प्रकट होता है, अर्थात् वह राजप्रासाद—राजमहल—है। हमारे साक्ष्य निम्न प्रकार हैं—

(1) शाहजहाँ, जिसका शासनकाल इतिहास का स्वर्णकाल माना जाता था, ताज के निर्माण-सम्बन्धी कागज-पत्रों का एक भी टुकड़ा नहीं छोड़ गया है। इसलिए, राज-निर्माण की आज्ञा के आदेश, तथाकथित भूखंड के क्रय अथवा अधिग्रहण के लिए पत्र-व्यवहार, रूपांकन-रेखाचित्र, देयक या पावतियाँ, और लेखा-व्ययक आदि कुछ भी तो उपलब्ध नहीं है।

(2) स्वयं ताजमहल नाम नरेशोचित आवास अथवा आवासों में सर्वोत्तम का द्योतक है। कल्पना की किसी भी विधि से सोचो, किसी भी कब्रिस्तान का पदनाम राजप्रासाद तब तक नहीं दिया जा सकता था, जब तक कि वह राजप्रासाद स्वयं ही कब्रिस्तान में न बदल दिया गया हो।

(3) यदि शाहजहाँ ताज की मूल-कल्पना करने वाला रहा होता, तो उसे मुल्ला अब्दुल हमीद को तिथिवृत्त में इसका उल्लेख करना न भूलने के लिए विशेष अनुदेश देने की आवश्यकता न पड़ती, क्योंकि शासनारूढ़ समार की सर्वोत्तम भव्य और श्रेष्ठ उपलब्ध के रूप में ताज का उल्लेख करना बेतनभौगी दरबारी वृत्तकार की दृष्टि से कभी ओझल हुआ ही नहीं होता। उसे पुनः स्मरण कराने की आवश्यकता ही न थी।

(4) मुल्ला अब्दुल हमीद हारा लिखित तिथिवृत्त में रूप-रेखांकनकार के नाम का अभाव एवं ताज की अत्यल्प कम लागत जैसी अनेक घोर विसंगतियाँ हैं, जिन पर परवर्ती इतिहासकारों ने व्याख्यात्मक टिप्पण दिए हैं।

(5) शाहजहाँ का शासनकाल किसी भी भाँति स्वर्णकाल न था क्योंकि यह तो अनवरत असामान्य युद्धों, बिद्रोहों, संक्रामक रोगों और अकालों से पूरित हो कलंकित हुआ था।

(6) यदि किसी रखेल के लिए ताज जैसा भव्य स्मारक बनाया जाता है, तो उसमें उस मृतकों को दफनाने की एक विशेष तिथि भी तो निश्चित होगी, और इसका उल्लेख अभिलेखों में अवश्य ही हुआ होगा। किन्तु इतना ही नहीं, कि दफनाने की तिथि का कोई उल्लेख नहीं है, अपितु जिस अवधि में वह ताज में दफनाइ गई होगी, वह काल भी मुमताज की मृत्यु के उपरान्त 6 मास से 9 वर्ष तक का भिन्न-भिन्न कहा जाता है।

(7) शाहजहाँ 21 वर्ष का था जब मुमताज से उसका विवाह हुआ। यह प्रदर्शित करता है कि वह उसकी बहुत-सी पत्नियों में से एक थी, क्योंकि शाहजहाँ के काल में लड़कों और विशेषकर शाहजादों के विवाह उनके किशोरवस्था में पदार्पण करने से पूर्व ही ही जाया करते थे। बहुत-सी पत्नियों में तथा कम से कम 5000 में से एक होने के कारण ऐसा कोई विशेष कारण नहीं था कि उसे किसी स्वर्गीक अनुपम स्मारक में सदैव स्मरण किया जाए।

(8) इतिहास ऐसा कोई उल्लेख नहीं करता है कि अपने जीवन-काल में मुमताज और शाहजहाँ में कोई विशेष अथवा असामान्य प्रेमाचार था। इसके विपरीत, जहाँगीर और नूरजहाँ के प्रेमाचरण का वर्णन तो मिलता है। यह दर्शाता है कि उनके प्रेम की बाद की कथा केवल यह सत्यपित करने के लिए गढ़ी गई है कि मुमताज के मृतपिंड के लिए ही शाहजहाँ ने ताजमहल की रचना की थी।

(9) ताज से किले तक का भू-गर्भस्थ संकटकालीन द्वार केवल राजप्रासाद में ही ही सकता था। मृतकपिंड को किसी सुरक्षात्मक-मार्ग और वह भी भू-गर्भस्थ मार्ग को कोई आवश्यकता नहीं हो सकती।

(10) विछाने में यात्रियों के उत्तरने के घाटों का अस्तित्व राजाप्रसाद का संकेतक है।

(11) केन्द्रीय संगमरमर-संरचना में भी लगभग 25 कमरों वाला राजप्रासादोद्युक्त स्थान है जो किसी भी प्रकार मूलरूप में मकबरा नहीं हो सकता था।

(12) समस्त ताज-संकुल में कुल मिलाकर लगभग 300 या इससे अधिक कमरे थे, जो इसके द्वारों तलघरों, ऊपरी मंजिलों और इसके अनेक स्तम्भों में थे।

(13) दीर्घा, मेहराब, दीवारगिरी और गोलाकार प्रासाद-शृंग पूर्ण रूप में हिन्दू शैली में हैं, जैसे समस्त राजपूताना में विपुल मात्रा में देखे जा सकते हैं।

(14) ताज के प्रत्येक भव्य संदेहात्मक पक्ष की ही भाँति इसकी निर्माणावधि में भिन्न-भिन्न 10, 13, 17, या 22 वर्ष कही जाती है, जो फिर सिद्ध करती है कि परम्परागत विवरण केवल कल्पना मात्र है। स्पष्टतः, उपर्युक्त कालावधियाँ सभी प्रकार सत्य हैं क्योंकि परिवर्तन 10 वर्ष के भीतर ही पूर्ण हो गये थे। कुछ अन्य, जिनके बारे में बाद में विचार आया, भिन्न समय पर समाप्त हुए थे। ये भिन्न-भिन्न वर्णन इस विश्वास को ही बल प्रदान करते हैं कि ताज मूल रूप में राजप्रासाद था।

(15) रूप-रेखांकनकारों का भिन्न-भिन्न प्रकार से उल्लेख किया जाता है—पश्चिमी विद्वानों ने यूरोपीय, मुस्लिम विद्वानों ने इनको मुस्लिम और इम्पीरियल पुस्तकालय-स्थित पाण्डुलिपि ने उन सभी को हिन्दू नामक बताया है। परम्परागत ताजकथा की असत्यता बताने के लिए और किस श्रेष्ठ प्रमाण की आवश्यकता है।

(16) इस तथ्य के अतिरिक्त कि इम्पीरियल पुस्तकालय स्थित पाण्डुलिपि में सभी हिन्दू नामों की सूची दी गई है, एक और उल्लेखनीय बात है जो ताज के रूप-रेखांकनकार यूरोपीय अथवा मुस्लिम होने सम्बन्धी दावे को पूरी तरह झूठला देती है। यह ध्यान रखने की बात है कि पश्चिमी विद्वानों में भी दो वर्ग हैं। एक वर्ग ताज के नमूने का श्रेय इटली के जीरोनियो वीरोनिओ को देता है। दूसरा वर्ग इसका श्रेय एक फ्रांसीसी आस्ट्रिन डि

बोरहांगम को देता है। चिह्नों के मुस्लिम-वर्ग में भ्रम भी इतनी घोर मात्रा में है। वे भी दो बगों में विभक्त हैं। एक वर्ग का कहना है कि इससा अजानदी एक तुकड़ा, दूसरा वर्ग समान रूप से बल देकर कहता है कि वह एक प्राचीन व्यक्ति था। असली बात यह है कि चौंक इससा अजानदी, लेखक के काल में प्रचलित सामान्य नामों में से चुन लिया गया एक काल्पनिक नाम ही है, इसलिए उसकी राष्ट्रीयता भी अनिश्चित रह गई है।

(17) ताज का प्रबोधाद्वार दक्षिणाभिमुख है न कि उत्तराभिमुख वैसाकि प्रत्येक पूल मस्जिद में होना चाहिए। जैसा किसी राजमहल में चाहिए, उसके अनुरूप ताज में एक विशाल स्वागत चतुरांगण है।

(18) किसी भी प्रकार व्यवशील न होकर, ताजमहल तो शाहजहाँ की सुविख्यात कथानक की सोने का अण्डा देने वाली मुगाँ सिद्ध हुआ। परम्परागत बण्णों में उल्लेख है कि ताज में मणियाँ जड़े हुए संगमरमर के झरोखे, सोने के खम्भे और चाँदी के द्वार थे। शाहजहाँ के अपने अथवा उसकी पत्नी के महल में भी परियों की कथानुरूप स्थावर सम्पत्ति न थी, जबकि वे दोनों जोकित भी थे। यह सोचना बिलकुल बेहृदा है कि मुमताज को मृत्यु के तुरन्त बाद ही आसमान से ऊपर फाइकर वह समस्त मूल्यवान् और भव्य स्थावर सम्पत्ति शाहजहाँ के घर में आ पड़ी। किन्तु उन स्थावर बस्तुओं के विवरण पूर्ण रूप में सत्य ही है। हम उनको इसी रूप में स्वीकार करते हैं। वे हमारे इस विचार का समर्थन करते हैं, कि शाहजहाँ चौंकि कृपण एवं धूरं धार्हा ही, उसने अपनी पत्नी को मृत्यु से भी अनुचित लाभ उठाया। उसने उस शोकपूर्ण अवसर को भी, जयसिंह को उसके पैतृक राजप्रासाद से बाहर निकाल देने के लिए, काम में लिया। मुमताज को अपहत, खिन्न राजमहल में गाढ़ा गया जिसकी सभी बहुमूल्य सामग्री बाद में चुपके-चुपके शाहजहाँ के क्रोधागार में जमा होती रही। और ये बस्तुएँ केवल ऊपर वर्णित सामग्री ही न थीं जो वहाँ से हटाई गई थीं, अपितु राजपूती मयूर-सिंहासन भी या जो उन वाञ्छल्यमान बस्तुओं के बीच में सुशोभित होता था। क्योंकि, चाँदी के द्वार और सोने के स्तम्भों तथा रूलजटित संगमरमर की दीवारों के

संकुल प्रासाद में मयूर-सिंहासन के अतिरिक्त और रखा ही क्या जा सकता था? अतः वह मयूर-सिंहासन, जो ईरान ले जाया गया था, मुगल कुलगत बस्तु न होकर अत्यन्त प्राचीन एवं भारतीय क्षत्रिय राजसिंहासन था जिसका निर्माण-काल-इससा पश्चात् चौथी शताब्दी के अनंगपाल अथवा विक्रम संवत् के आदिस्वामी विक्रमादित्य के काल अर्थात् इससे 57 वर्ष पूर्व तक जा सकता है।

(19) जहाँ आज ताज स्थित है, वह स्थान ख्यासिहपुरा और ख्यासपुरा नामक दो अतिव्यस्त बस्तियों का था। उन बस्तियों का मुख्य आकर्षण केन्द्र ताज राजप्रासाद ही था। संस्कृत में 'पुर' शब्द व्यस्त नगरों का द्योतक है—केवल एक खुला भूखण्ड नहीं।

(20) सर्वमान्य तथ्य, कि शाहजहाँ ने जयसिंह से ताज-सम्पत्ति ले ली थी, इस विषय में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है। यह विश्वास कि शाहजहाँ ने एक खाली भूखण्ड ले लिया था, कोई बना बनाया राजप्रासाद नहीं, इसी धारणावश जमा हुआ है कि उसने मकबरा बनवाया। इसके लिए अन्य कोई प्रमाण नहीं है। वह धारणा भी निराधार है।

(21) यह लिखा हुआ मिलता है कि बाबर अपने उद्यानीय राजप्रासाद में मरा था। आगरा में ताज के अतिरिक्त और कोई ऐसा भव्य भवन नहीं है जिसके अविभाज्य एवं अपरिहार्य विशेषण के रूप में उद्यान इतना महत्वपूर्ण बन चुका हो। शाहजहाँ से चार पीढ़ी पूर्व बाबर जिस उद्यानीय राजप्रासाद में मरा, वह ताज के अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं था।

(22) अपनी आगरा की प्रारम्भिक यात्राओं पर अकबर ख्यासपुरा और जयसिंहपुरा में ठहरा करता था। यह स्पष्ट प्रदर्शित करता है कि वह ताज में ठहरता था। भवन की भव्यता की विद्यमानता के होते हुए भी वह वहाँ स्थायी रूप में न रह पाया क्योंकि इसकी सुरक्षा-संरचनाएँ निरन्तर आक्रमणों के कारण तहस-नहस कर दी गई थीं। और स्वयं अपने ही पुत्र से लगाकर अन्य सभी लोगों द्वारा घृणित अकबर किसी गैर-मोर्चाबिन्दी के स्थान या राजमहल में रहने की हिम्मत न कर सका।

(23) बर्नियर का कहना है कि ताज के सबसे नीचे के कमरे वर्ष में केवल एक बार ही खुलते थे, और किसी भी गैर-मुस्लिम को उनके भीतर जाने की अनुमति नहीं मिलती थी। यह ताज की भू-तलीय मंजिलों के बाने की अनुमति नहीं मिलती थी। यह ताज की भू-तलीय मंजिलों के सम्बन्ध में रखी गई अत्यन्त व्यक्तिगत रहस्यमयता को प्रकट करता है। यह अत्यन्त खेद की बात है कि हमारी सरकार और हमारे विद्वान् ताज की भू-तलीय मंजिलों को खोलने, मलवा साफ़ करने, विद्युत व्यवस्था करने, सोडियों और कमरों में भरे कूड़े-कचरे को हटाने और इतिहास के अध्येताओं तथा सामाज्य साधारणजनों को इन स्थानों का निर्बाध भ्रमण करने की अनुमति लिए कोई जागरूकता प्रदर्शित नहीं करते। इस पर लगाए जाने वाले प्रबेश-शुल्क से सरकार को भी पर्याप्त आय होगी, और अन्वेषकों, सामाज्य चारियों, इंजीनियरों तथा वास्तुकलाविदों को भी इस भव्य तथा कल्पनातीत रचना की भू-तलीय अलौकिकता के दर्शनमात्र से ज्ञान-संवर्धन की प्राप्ति होगी। इस प्रकार, यहाँ अन्वेषण की अत्यन्त श्रेष्ठ सामग्री उपलब्ध है। किसी को क्या मालूम कि नीचे ही कहाँ अज्ञात विपुल कोष भी दबा पड़ा हो! इस प्रकार सरकार और सामाज्य जनता दोनों का हित होगा यदि इस ताज के तलघर सभी दर्शनार्थियों के लिए खोल दिये जाएं।

(24) 'तारीखे-ताजमहल' दस्तावेज जाली सिद्ध हो गया है।

इस प्रकार के असंख्य संकेत हमारी अपनी धारणा के पक्ष में दिये जा सकते हैं। किन्तु मुझे विश्वास है कि जो कुछ हम ऊपर कह चुके हैं वह यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि शाहजहाँ द्वारा ताज बनवाने की परम्परागत कथा इतिहास के बढ़े-से-बढ़े घोटालों में से एक है। ताज-विभ्रम का मूर्चा-भेदन स्वतः ही मध्यकालीन इतिहास को पिचका देता है। यहाँ हमारे लिए ठस महान् इतिहासकार सर एच०एम० इलियट के वे शब्द स्मरण दिलाने ब्रेवस्कर होंगे जो उसने मध्यकालीन तिथि-वृत्तों के अपने अष्टाङ्गीय अध्ययन के आमुख में अत्यन्त संगत और स्पष्ट रूप में वर्णित किये हैं, कि "भारत में मुस्लिम कालखण्ड का इतिहास अत्यन्त ऐचक और जान-बूझकर किया गया थोखा है।" दुर्भाग्य से यह कपटजाल

इतना दुर्भेद्य है कि बेवारे सर एच. एम. इलियट भी, यह जानते हुए कि यह एक थोखा है, ताज के कुछ पक्षों पर विश्वास करने के कारण ठगी में आ ही गये। यह कपटजाल इतना पुखा रहा कि फ़ार्युसन, विसेन्ट स्मिथ और अन्य इतिहासकार जैसे पश्चिमी और पूर्वी विद्वानों की अनेक पीढ़ियाँ भी इससे ठगी जाती रही हैं। मैं आशा करता हूँ कि भारतीय पाठशालाओं, विद्यालयों और अन्वेषण संस्थानों में भारतीय इतिहास के नाम से पढ़ाए जा रहे कल्पनार्थियों में अपना मन फ़ैसाए रखने के स्थान पर भारतीय इतिहास के विद्वान्, विद्यार्थी और शिक्षक अब तो कम-से-कम एक स्थान पर बैठेंगे और विचार करेंगे।

फ़तहपुर सीकरी

आगरा से लगभग 27 मील की दूरी पर एक पहाड़ी की चोटी पर स्थित लाल पत्थर का एक भव्य और विशाल राजप्रासाद-संकुल स्थान 'फ़तहपुर सीकरी' के नाम से पुकारा जाता है। प्रचलित भारतीय इतिहास ग्रन्थ और भ्रमणार्थियों का साहित्य बहुविधि घोषित करते हैं कि यह शाही नगरी, सन् 1556 से सन् 1605 तक भारत के एक विशाल भाग पर शासन करने वाले, मुगल वंश के तृतीय बादशाह अकबर ने बसाई थी।

चौंक भारत भर में सर्वत्र फैले हुए प्रचलित सभी मध्यकालीन स्मारक, यद्यपि वे सभी मुस्लिम-पूर्व काल के उद्गम हैं, इस या उस मुस्लिम शासक के साथ भूल से जोड़ दिये गये हैं, इसलिए यह कोई आश्चर्य नहीं है कि फ़तहपुर सीकरी की शाही नगरी का भी वही भाग्य रहा। किन्तु यह सिद्ध करने के लिए अमार साक्ष्य उपलब्ध हैं कि अपने प्रचलित लाल पत्थरों के स्मारकों सहित फ़तहपुर सीकरी एक राजपूती नगरी थी जो अकबर से शताब्दियों पूर्वकाल में निर्मित हुई थी। हमारे साक्ष्य के प्रमुख प्रमाण निम्न प्रकार एकत्र किए जा सकते हैं—

(1) अकबर से पूर्व शासन करने वाले शासकों से सम्बद्ध अनेक मुस्लिम तिथिवृत्तों में इस नगरी के सम्बन्ध में 'फ़थपुर', 'सीकरी' और

'फथपुर सीकरी' के नाम से भी अनेक बार उल्लेख हुआ है।

(2) चाकाधीश जै०एम० शेलट द्वारा लिखित और भारतीय विद्याप्रबन्ध, बम्बई द्वारा प्रकाशित 'अकबर' शीर्षक ऐतिहासिक पुस्तक के ९२वें पृष्ठ के सम्मुख एक फलक दिया गया है जिसके चित्र का शीर्षक है ९२वें पृष्ठ के सम्मुख एक फलक दिया गया है जिसके चित्र का शीर्षक है 'हमारे कों दुकड़ियाँ फथपुर में प्रवेश कर रही हैं।' यहाँ स्मरणीय यह है कि 'हमारे कों दुकड़ियाँ फथपुर में प्रवेश कर रही हैं।' यहाँ स्मरणीय यह है कि फथपुर हमारे अकबर का पिता था। यह चित्र इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि फथपुर हमारे अकबर का पिता था। यहाँ स्मरणीय यह है कि फथपुर हमारे अकबर से पूर्व विद्यमान थी।

(3) बाबर के स्मृति-ग्रन्थों में उल्लेख है कि पहाड़ी से दीख पड़ने वाली फतहपुर सीकरी के चारों ओर ही, भारत में मुगल बंश संस्थापक बाबर द्वारा युद्ध के बाद आना पड़ा था। राणा साँगा को नगरी और राणा साँगा के मध्य निर्णायक युद्ध लड़ा गया था। राणा साँगा को नगरी की चहारदोवारी से बाहर आना पड़ा था ज्योंकि घेरा डालने वाली शत्रु-सेना देहातों को रोंद रही थी, निर्दोष नागरिकों को कत्ल कर रही थी और नगरी के प्रमुख बल-भंडार अनूप झील को विषमय बना रही थी। चूंकि राणा साँगा युद्ध लड़ने के लिए नगरी के बाहर आए थे, इसीलिए बाबर ने कहा है कि युद्ध पहाड़ी के निकट ही लड़ा गया था।

(4) बेखबर लोग कदाचित् तक करने लगे कि वह लड़ाई तो कुछ ही मील दूर कनवाहा में लड़ी गयी थी, किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। कनवाहा को लड़ाई तो बाबर की फौजों और राणा साँगा की सेना की एक दुकड़ी का प्रारम्भिक संघर्ष भर थी। अन्तिम निर्णायक युद्ध तो कुछ दिनों के पश्चात् फतहपुर सीकरी के चहुं ओर लड़ा गया था जिसमें स्वयं राणा साँगा ने अपनी सेना का नेतृत्व किया था।

(5) सम्पूर्ण नगरी और समतल पैदान के सैकड़ों एकड़ को चर्चित करने वाली विशाल प्राचीर अभी भी गोलाबारी के चिह्नों से युक्त है। दोनों में दरारों वाले छेद बाबर की सैन्य-दुकड़ियों द्वारा राणा की सुरक्षापंक्तियों पर बन्दूकों के आक्रमण के प्रमाण हैं।

(6) 'अकबर इस प्रकार ज्वर हुई नगरी में रहा था'—इसका प्रमाण लिटिक संग्रह के उस प्रतिनिधि द्वारा मिलता है जो अकबर की मृत्यु के

पश्चात् जहाँगीर के सिहासनालूढ़ होने के बाद उसके पास आया था। इस प्रतिनिधि ने लिखा है कि नगरी ज्वर हो चुकी थी। यह भी मान लिया जाए कि इस नगरी का निर्माण अकबर द्वारा हुआ था, तो भी जब हम इसके सभी भव्य स्मारकों को अक्षत पाते हैं जैसे कल ही बने हों, तो यह समझ में नहीं आता कि यह नगरी जो सन् 1583 में पूर्ण हुई विश्वास की जाती है, किस प्रकार केवल 23 वर्ष में ही ज्वर हो गई, जब वह अंग्रेज जहाँगीर के पास आया। साक्ष्य का यह अंश स्पष्ट करता है कि अकबर अपने पितामह द्वारा कुछ दशाब्द-पूर्व ही ज्वर की गई राजपूती नगरी में ही रहता रहा था।

(7) एक अन्य अंग्रेज—रालफ फिच—फतहपुर सीकरी सन् 1583 में सितम्बर मास में आया था। अपनी यात्रा के जो टिप्पण वह छोड़ गया है, उसमें उसने आगरा और फतहपुर सीकरी की परस्पर तुलना की है, जो इस बात का घोतक है कि वह दोनों नगरों को ही प्राचीन मानता था। जैसाकि मुस्लिम तिथिवृत्तों में झूठा दावा किया गया है, यदि फतहपुर सीकरी सन् 1583 ई० के आसपास बनी बिलकुल नयी नगरी रही होती तो उसने वैसा ही कहा होता और उन दोनों नगरों की तुलना न की होती। वह यह भी कहता है कि व्यापारी अपनी बहुमूल्य सामग्री बेचने के लिए फतहपुर सीकरी में जमा हुआ करते थे। यह टिप्पण भी इस बात का घोतक है कि यह व्यापार-संगम एक प्राचीन प्रथा थी। यदि फतहपुर सीकरी एक नई नगरी ही होती, तो फिच ने इसकी तुलना प्राचीन आगरा से कभी न की होती—कम-से-कम फतहपुर सीकरी का नसी नगरी के रूप में विशेष नामोल्लेख तो अवश्य ही किया होता।

(8) फतहपुर सीकरी के बाहर (अब शुष्क पड़ी) विशाल झील का संस्कृत (अनूप) नाम भी सिद्ध करता है कि यह मुस्लिम-पूर्वकाल में राजपूतों द्वारा बनाई गई थी।

(9) यह तथ्य भी, कि अनूप झील सन् 1583 में फूटकर वह निकली और अन्त में विवश होकर अकबर को वह नगरी संदेह के लिए छोड़ देनी पड़ी, विचार प्रस्तुत करता है कि अनेक दशाब्दियों से यह झील देखभाल

और मरम्मतादि से उपेक्षित रही प्रतीत होती है (जब से बाबर ने इसे रोका और फ़तहपुर सीकरी को अपने अधीन किया था)। यदि फ़तहपुर सीकरी के बलभंडार के रूप में यह नयी-नयी ही बनो थी, तो इसके फूटकर वह निकलने की बात न होती।

(10) फ़तहपुर सीकरी के निर्माण-प्रारम्भ का समय परम्परागत मुस्लिम तिथिवृत्त इसा पश्चात् 1564, 1569, 1570 और 1571 बताते हैं। ये विभिन्न वर्षन स्वयं ही असत्यता को सिद्ध करते हैं।

(11) वे उल्लेख करते हैं कि नगरी सन् 1583 के आसपास पूर्ण हो गई थी। ऐसा हुआ, तो अकबर ने इसे सन् 1585 तक छोड़ क्यों दिया? वास्तविक कारण यह था कि झील के सन् 1583 के उफान ने अकबर के लिए प्राचीन राजपूती राजप्रासाद में रहना असम्भव कर दिया था। यदि अकबर ने ही इस नगरी और झील, दोनों का निर्माण सन् 1583 के आसपास पूर्ण कराया होता तो प्रथम बात यह है कि सन् 1583 ई. में ही झील फूट न गई होती और दूसरी बात यह है कि अकबर ने इस नये निर्मित राजप्रासाद-संकुल को त्याग देने के स्थान पर इस झील की मरम्मत कराई होती। किन्तु अकबर को यह त्यागनी ही पड़ी क्योंकि उसे झील की मरम्मत कराने का कुछ भी ज्ञान न था।

(12) जहाँ पर हाथीपोल (गज-द्वार) झील में खुलता है, वहाँ पर एक छोटा स्तम्भ है जिसमें एक चक्करदार सीढ़ी भी है। स्तम्भ में बीसयों प्रस्तावीप हैं। यह एक परम्परागत हिन्दू दीप-स्तम्भ है जो मन्दिरों और राजप्रासादों के सामने होता था। इन टेकों पर मिट्टी के दीपक रखे जाते थे। बगमग-बगमग दीख पढ़ने के कारण यह दीप-स्तम्भ 'हिरण्यमय (स्वर्णिम)' कहलाता था। वही संस्कृत शब्द अब विद्याधतापूर्वक 'हिस्तमोनार' में बदल दिया गया है जिसमें वह जाली अकबर-कथा में ठीक बैठ जाए, और स्तम्भ अकबर के प्रिय हिरण के मरण-स्थान के रूप में माना जाता है। क्या अकबर के हिरण ने मरने के समय अपनी अन्तिम इच्छा प्रकट की थी कि उसको एक चक्करदार सीढ़ीयुक्त हिन्दू-दीप-स्तम्भ के रूप में

स्मारक में स्थान दिया जाए?

(13) हाथीपोल दरबाजे के निकट दो बड़े हाथियों की विशालकाय मूर्तियाँ अपने राजपूती मूल की शान्ति-अवाकृ साक्षियाँ हैं। प्रस्तर गज-मूर्तियाँ के शीर्ष तोड़ डाले गए हैं। उनकी सूँडों की प्रवेशद्वार पर मेहराब हुआ करती थी जैसे कि आज भी राजपूती रियासत की राजधानी कोटा के राजमहल में है। इसी प्रकार के गज-द्वार चित्तांड़ में और आगरा व दिल्ली के लाल-किले में हैं। इस्लाम तो सभी मूर्तियों से चिढ़ता है। और भी बात यह है कि गज तो हिन्दू धार्मिक आस्था और इतिहास में सदैव श्रेष्ठता और दैवी शक्ति, बल और यश का प्रतीक रहा है। यह विशिष्टता लिये हुए भारतीय पशु भी है। यह सिद्ध करता है कि फ़तहपुर सीकरी का हाथीपोल दरबाजा तो बनाना दूर, अकबर ने उन हाथियों के शीर्ष कटवा दिये थे और उनकी भव्य मेहराबदार सूँडे तुड़वा दी थीं।

(14) इसी प्रकार की मूर्ति-भंजकता फ़तहपुर सीकरी के अन्दर के अनेक भवनों में परिलक्षित की जा सकती है जहाँ दीवारों पर बने मयूर पक्षी चित्रों को तराश दिया गया है।

(15) अश्वों के लिए अश्वशाला और गजों के लिए गजशाला सहित परस्पर गुफित अलंकृत हिन्दू कलाकृति और लक्षणों युक्त यह सम्पूर्ण नगरी ही परम्परागत राजपूती शैली में है।

(16) इसके नाम और समुच्चयों की संज्ञा भी लगभग पूर्ण रूप में हिन्दू ही है; यथा पंचमहल, जोधाबाई का महल, तानसेन महल, बीरबल महल आदि। यह प्रदर्शित करता है कि विदेशी मुस्लिम सरदार अपनी धार्मिक मान्यताओं के कारण उन अलंकृत भवनों को उपयोग में न ला सकें।

(17) तथाकथित सलीम चिश्ती का मकबरा अलंकृत रूप में अन्दर खुदाई किया हुआ संगमरमर का हिन्दू मन्दिर है। इसके भीतर पूरी तरह बेल-बूटों से युक्त एक संगमरमर का स्तम्भ है जिसको मूलरूप में सत्य ही मकबरे में कोई स्थान उपलब्ध न होता।

(18) भारतवर्ष में कहीं भी किसी मुस्लिम फ़कीर के मकबरे का

(१९) तथाकथित बुलन्द दरवाजे और शाही दरवाजे के पाश्वरस्थ विशाल चतुष्कोण में सलीम चिश्ती की कब्र के साथ-साथ बीसियों और भी कब्रें हैं। इसके बिल्कुल ही निकट शाही राजमहल है। यदि अकबर ने यह नगरी बसायी होती, तो क्या वह उस भव्य, विशाल, पट्टीदार चतुष्कोण को कल्पिस्तान में बदल देने की अनुमति दे सकता था? क्या कभी कोई बादशाह अपने सिरहाने ही किसी भयोत्पादक कल्पिस्तान को पसन्द करेगा? स्पष्टतः वे कब्रें उन मुस्लिम योद्धाओं की हैं जो बाबर के समय में नगरी को ध्वस्त करने के कार्य में वहाँ खेत रहे थे अथवा उन फ़कीरों की हैं जो बाद में उन खण्डहरों में आ बसे थे। यह भी सन्देहात्मक है कि शेष सलीम चिश्ती सचमुच वहाँ दफ़नाया हुआ है भी या नहीं, क्योंकि उसकी कब्र अन्य सभी त्रिकोणात्मक मुद्राशियों से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होती है।

(20) उसी बड़े चतुष्कोण का एक बरामदा भी मस्जिद नाम से पुकार जाता है। यह भी सिंह करता है कि मस्जिद—कब्रिस्तान—शाही चतुष्कोणमय कैचे भव्य द्वारों से युक्त यह गोलमाल जान-बूझकर किया हुआ, बलात् अधीन किये हुए राजपूत नगर का एक साथ किया हुआ दृश्योगी रूप है। इ. हब्ल्यू. स्मिथ तथा अन्य पश्चिमी इतिहासकारों ने लिखा है कि इस तथाकथित मस्जिद में इसकी गूढ़ कलाकृति में अनेक हिन्दू चिह्न प्राप्त हैं। परिधि का एक सूक्ष्म विवेचन प्रदर्शित करता है कि विशाल चतुष्कोण बाहर द्वारा नगरी अधीन किये जाने से पूर्व राजपूत राजवंश की पाकशाला तथा भोजनालय कक्ष था।

(21) 'सौकरी' शब्द संस्कृत का मूल है। 'संस्कृत में 'सिकता' का अर्थ रेत है। रेतोले राजस्थानी खण्ड में इसी के कारण एक प्रमुख स्थान

'सीकर' नाम से पुकारा जाता है। सीकर का अत्यल्प स्थीकाचक शब्द 'सीकरी' है। सीकर से आये हुए व्यक्तियों के लिए 'सीकरी' नामक नगरी बसाना बिल्कुल सामान्य बात है। यह इस तथ्य का संकेतक है कि फ़तहपुर सीकरी के मूल संस्थापक सीकर के किसी राजपृत परिवार के व्यक्ति रहे होंगे। 'पुर' प्रत्यय भी संस्कृत में बस्ती का द्योतक है। 'फ़तह' उपसर्ग विजित नगरी का द्योतक है। अतः मुस्लिम-उपसर्ग 'फ़तह' स्वयं ही इस बात का प्रमाण है कि फ़तहपुर सीकरी एक पूर्वकालीन राजपृत नगरी है जो आक्रमणकारी विदेशियों द्वारा विजित हुई।

(22) अकबर के शासनकाल के अभिलेखों में कागज का एक टुकड़ा भी ऐसा नहीं है जो सिद्ध करता हो कि प्रतहपुर सीकरी नगरी बसाने की आज्ञा दी गई हो, रूप-रेखांकन हुआ हो, सामग्री के लिए आदेश दिये हों, श्रमिकों को मजदूरी दी हो अथवा दैनिक लेखा रखा गया हो। यदि अकबर ने बास्तव में इतनी बड़ी नगरी-निर्माण का आदेश दिया होता, तो अभिलेखों के अम्बार अथवा कुछ फटे-पुराने टुकड़े मुगलों के उन अभिलेखों में मिलते ही जो ब्रिटिश लोगों ने अपने कब्जे में ले लिये।

(23) अकबर हारा फ़तहपुर सीकरी का निर्माण प्रारम्भ किए जाने वाली मनगढ़न्ति तिथियों से भी पहले, इतिहास में यह उल्लेख मिलता है कि अकबर अपनी पत्नियों को प्रजनन-प्रसूती के लिए फ़तहपुर सीकरी भेज दिया करता था। यह स्पष्ट रूप में दर्शाता है कि अकबर के शासन के प्रारम्भिक काल में भी फ़तहपुर सीकरी में नरेशोचित भवन थे, जो शासी देगमों के प्रजनन-प्रसूती के लिए परम उपयुक्त थे। इस अति स्पष्ट बात के होते हुए भी, कि अकबर का शासनकाल प्रारम्भ होने के समय भी फ़तहपुर सीकरी राजप्रसादीय-संकुल विद्यमान था, इठे अभिलेखों में यह मक्कारी से दूस दिया गया है कि अकबर की पत्नियाँ सलीम चिश्ती की गुफ़ाओं में शाहजादों को जन्म दिया करती थीं। यह कहना ही बिल्कुल झूठ है कि सलीम चिश्ती गुफ़ा में रहा करता था। जैसे सभी मुस्लिम फ़कीर रहा करते थे, उसी प्रकार वह भी राजप्रसादीय धर्मसावशेषों में निवास करता था। दूसरी

बात यह भी है कि अनुभव करने की है कि अकबर की पत्नियों कोई रोमानीया तो धी नहीं जो गुफाओं में शावक-समूहों को जन्म देतीं। तीसरी पास प्रबन्धन के लिए भेजता था, स्वयं में ही अत्यन्त विचित्र है, क्योंकि कुछ भी हो, यह निश्चित है कि सलीम चिश्ती कोई प्रमाणित नित्याभ्यासी दाईं तो था नहीं!

(24) प्रचलित शुद्धे वर्णनों के अनुसार फ़तहपुर सीकरी, सन् 1570 से 1583 के मध्य बन ही रही थी, और कमाल यह है कि ठीक इसी अवधि में यह अकबर की राजधानी भी रही। बन रही नगरी में अकबर किस प्रकार रह सकता था?

(25) अकबर के सिंहासनारूढ़ होने से तीन दशाब्दी मूर्ख बाबर व राणा सौंगा के मध्य लड़े गए अन्तिम युद्ध का स्पष्ट प्रमाण पहाड़ी चिकटवर्ती मैदान को परिवेष्टित करने वाली विशाल बाह्य प्राचीर में दरारमय है।

इस प्रकार का विपुल साक्ष्य होते हुए भी, प्रचलित ऐतिहासिक ग्रन्थों
और याज्ञ-सम्बन्धी साहित्य में कालदोप-विषयक यह बात कहते रहना कि
फ्रतहपुर सौकरी—जो वास्तव में हिन्दू नारी है—अकबर द्वारा आज्ञापित थी,
भयंकर घूलों से भरे हुए भारतीय इतिहास-परिशोध की एक बहुत बड़ी और
धोर त्रुटि का अत्यन्त विष्मयकारी उदाहरण है।

हम यह भी सुनते हैं कि अकबर 19 वर्ष की आयु में अर्थात् सन् 1561 ई. में फ़तहपुर सीकरी से अजमेर के लिए रवाना हुआ था। वापिस आते समय अकबर ने जयपुर के शासक भारमल को विवश किया कि वह अपनी पुत्री अकबर के हरम के लिए सौंप दें। उसके पश्चात् प्रत्येक महत्वपूर्ण सैनिक अधियान की पूरी तैयारी फ़तहपुर सीकरी में ही की गई थी, और वहाँ से उसको बाहर भी भेजा गया था। इसी प्रकार चढ़ाई करके लौटने वाली सेनाएँ भी अकबर को पूरी जानकारी देने के लिए फ़तहपुर सीकरी ही बापस आती थीं।

इस प्रकार की बेहूदगियों से इतिहास-शिक्षकों, विद्यार्थियों, विद्वानों, और सामान्य जनता को भी इस तथ्य की ओर सजग हो जाना चाहिए कि अकबर द्वारा फ़तहपुर सीकरी का निर्माण घोषित करने वाले सभी परम्परागत वर्णन जान-बूझकर प्रचारित भ्रम हैं। उसने तो केवल एक अपहता राजपूती नगरी में तब तक अधिवास किया जब तक इसका विशाल, क्षतिग्रस्त झलभण्डार सुचारू रूप से कार्य करता रहा। जब वह जलभण्डार फूटकर वह चला, तब अकबर को भी संसंकोच सन् 1585 में अपनी सारी फौज-फाटा सहित वह स्थान सदैव के लिए छोड़ देना पड़ा।

आगरा-दूर्ग

आगरा में अन्य महत्त्वपूर्ण भवन लाल पत्थर का किला है। चौक आगरा (Agra) एक संस्कृत नाम है, और मुस्लिम लोगों के भारत में आने से पूर्व राजपूत शासकों की समृद्धिशाली राजधानी थी, इसलिए इसमें दुर्ग तो होना ही था। वह किला तो बना ही राजपूत शैली में है। वहाँ के शैलीपूर्ण दीवानेखास और दीवानेआम कक्षों का स्थापत्य (जयपुर के निकट) आमेर के किले के अन्दरूनी भागों से न केवल बहुत ही अधिक साम्य रखता है, अपितु हिन्दू मण्डप-आकार पर है। किसी मुस्लिम शासक के पास कभी भी न तो इतना समय ही था और न ही उसके पास इतना धन था कि इतना बहुमूल्य दुर्ग बनवाए। इसके द्वारों के नाम भी हिन्दुओं के नामों पर हैं यथा 'अमरसिंह द्वार', 'हाथीपोल द्वार'। द्वारों पर, पूर्ण राजाधिकारों से युक्त अश्वारोही और गजारोही राजपूत नरेशों की मूर्तियाँ थीं।

इसका स्पष्टीकरण यह कहकर देना बेहूदा है कि अपनी सेना के विरुद्ध चित्तोड़-दुर्ग की सुरक्षा-प्रतिरक्षा हेतु बीरतापूर्वक युद्ध करते हुए शूर राजकुमारों के स्वर्ग सिधार जाने पर उनके शौर्य से प्रसन्न होकर अपनी विशाल हृदयतापूर्वक ही अकबर ने उनकी अध्यर्थना करते हुए इनकी मूर्तियाँ बनवा दी थीं। ये मूर्तियाँ तो पूर्वकालिक राजपूत नरेशों की थीं, और अकबर के सिंहासनालुढ़ होने से शताव्दियों पूर्व ही यह क्रिला बन चुका था।

आगरा-दुर्ग दिल्ली के लालकिले का सहोदर है। एक का श्रेय अकबर की और दूसरे का श्रेष्ठ शाहजहाँ को देना गलत है। जब भी कभी वे बने थे, वे हिन्दू शासकों द्वारा ही बने थे। ऐसा कोई आधिकारिक लिखित प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिससे वह दावा सिद्ध होता हो कि ये दोनों किले प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं जिससे वह दावा सिद्ध होता हो कि ये दोनों किले पुराल बादशाहों ने बनवाए थे। इस दावे पर विश्वास करने में इतिहासकारों ने भयंकर भूल की है।

इन दोनों ही किलों में उनकी मेहराबों पर प्रस्तर-पुष्टक लक्षण हैं। दोबानेखास और दीबानेआम कक्षों का स्थापत्य अलंकृत हिन्दू मण्डल शैली का है। उनमें सपाट चूकूरें वालों छर्ते हैं, और कोई भी गुम्बद अथवा मीनारें नहीं हैं। गब-मूर्तियाँ दोनों ही द्वारों पर सुशोभित हैं। चौंकि इस्लाम तो मूर्तियों के नाम-मात्र से भी कृपित होता है, इसीलिए मुस्लिम बादशाह ऐसे किले कभी नहीं बना सकते थे जिनमें हाथियों की मूर्तियाँ हों।

इलाहाबाद-स्थित स्मारक

खुसरू बाग

पुराने कालीन स्मारकों को रचना के विषय में भान्त धारणाओं का एक और ढंगेखनीय ढारणा इलाहाबाद है। इलाहाबाद में दीख पड़ने वाले दो यहत्त्वपूर्ण प्रथकालीन स्मारक तथाकथित खुसरू बाग और संगम पर स्थित किला है। नगर-प्राचीर में दो भव्य मेहराबदार द्वार हैं, एक खुसरू बाग की ओर जाने वाला और दूसरा पुराने नगर की ओर जाने वाला। दोनों ही हिन्दू नमूने के हैं। उनमें वैसे ही प्रस्तर पुष्ट-चिह्न, आलंकारिक बेल-पत्तियों की भालामय खिड़कियाँ और बृत्ताकार छर्ते हैं, जैसी जयपुर नगर-प्राचीर और उनस्थान के अन्य नगरों में दिखाई देती हैं। मेहराब से पार नगर के अन्दर यहाँ मण्डी और अत्रि अनुसूया (जो अब बोलचाल की गँवारू भाषा में 'अत्रमूर्या' बन गया है) थेत्र हैं। इसी रानी (जिसके नाम पर 'मण्डी' क्षेत्र

अभी भी है) और उसके राजा का प्रासाद आज भूल से 'खुसरू' बाग कहलाता है। वह उनका महल था जो मुस्लिम सेनाओं ने नगर में चढ़ाई करते समय छ्वस्त कर दिया। छ्वस्त किये जाने से बचे हुए कुछ भाग बाद में करते समय छ्वस्त करक्षों के रूप में काम लाए गए। यह उनके विषम आकारों और समाधिसूचक कक्षों के रूप में काम लाए गए। यह उनके विषम आकारों और पूर्णरूप में हिन्दू-कारीगरी से स्पष्ट हो जाएगा। उन भागों में से एक में तो कछ्र नाम की कोई वस्तु है ही नहीं जो यह प्रदर्शित करता है कि आज विद्यमान सभी भाग समाधि सूचकेतर प्रयोजन से निर्मित किए गए थे। दूसरे भाग में पलास्तर छत तक भद्र प्रकार से चढ़ा दिया गया है। इन स्मारकों में से एक के साथ ताम्बूलन नाम की स्त्री का सम्बन्ध जुड़ा है जो मुनः डलझन में डालने वाला है, क्योंकि ताम्बूल शब्द संस्कृत का है। यही भारी दीबार की चहारदीबारी जो उन दयनीय, हास्यास्पद रूप से विकृत आकृतियों और खण्डित स्मारकों को पृथक् करती है, अनावश्यक है। यदि खुसरू बाग की ठीक ढंग से खुदाई की जाए, तो इसमें दीबारों की चौकी और प्राचीन क्षत्रीय प्रासादों के अन्य अवशेष अवश्य मिलेंगे।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी उठता है कि यदि विशेष रूप में मकबरे ही बनाए गए थे, तो ये हिन्दू लक्षणों से युक्त वर्णां हैं? एक अन्य प्रश्न भी है कि यदि वे मृत शहंशाहों के वास्तविक मकबरे हैं, तो फिर जीवित व्यक्तियों के उन्हों के समरूप महल कहाँ हैं?

इलाहाबाद का किला

इलाहाबाद का किला भी अकबर के साथ गलती से सम्बद्ध किया जाता है। यह अनेक सूत्रों से सिद्ध किया जा सकता है कि अकबर से शताब्दियों पूर्व भी इलाहाबाद का किला विद्यमान था। सीप के कोर के समान कटे हुए किनारे के नमूने की रिबन के समान एक पतली-लम्बी अनियमित रेखा दीबार के मध्य उच्च बाढ़-सीमा धरातल पर चलती है। वह नमूना और संगम की ओर निहारती हुई खिड़कियों की आलंकारिक कलाकृति, किले के अन्तःकक्षों में से कुछ में उलझी हुई संगतराशी, और

किले के भीतर ही अशोक स्तम्भ, पातालेश्वर मन्दिर और अक्षय चट-बृक्ष का अस्तित्व ही इस बात के प्रमाण हैं कि किला अकबर से शताब्दियों पूर्व भी विद्यमान था। जब हर्ष जैसे महाराजा प्रथम अर्थात् इलाहाबाद की मात्रा अपनों सर्वस्व सम्पत्तिदान करने के लिए किसा करते थे, तब वे किले में ही रहते थे। अतः इलाहाबाद का किला मुस्लिम युग-पूर्व का अत्यन्त प्राचीन स्मारक है, और इसके निर्माण का श्रेय अकबर को देते समय फर्गुसन ने समुचित ध्यान नहीं दिया। अन्य इतिहासकारों ने भी उसी के आधार पर अकबर को किले का निर्माता मानकर विचार करने के प्रकार में दोष उत्पन्न कर दिया है। यह इस बात का एक विशिष्ट उदाहरण है कि कुछ भयंकर भूल करने वाले सेखकों की ऊल-जलूल कल्पनाओं के कारण भारतीय प्रथकालीन इतिहास ग्रन्थ किस प्रकार तथ्यों से विहीन हो गए हैं।

अहमदाबाद के स्मारक

किस प्रकार सभी गणपूर्ति स्मारक परवर्ती मुस्लिम शासकों से सम्बद्ध कर दिए गए हैं, इसका अन्य उदाहरण अहमदाबाद है।

अहमदशाह-प्रथम के नाम पर अहमदाबाद कहलाने से पूर्व यह नगर राजनगर, कर्पंवती और अशावल नाम से पुकारा जाता था। इसका इतिहास बहुत प्राचीनकाल तक जाता है। अहमदशाह बहुत ही धर्मान्ध्र और अत्याचारों शासक था। जैसा मुस्लिम शासकों का नित्य का अभ्यास था, उसी प्रकार अहमदशाह ने भी अधिगृहीत राजपूत मन्दिरों और राजप्रासादों को मालबादी और मकबरों के रूप में इस्तेमाल किया। उसके द्वारा की गई असह्य लूट-खसोट और विष्वस की एक झलक दिल्ली से प्रकाशित 'कारबी' नामक पत्रिका के 'अगस्त' 59' के गुजरात-विशेषांक में श्री अशोककुमार नवमूदार के 'तीन सन्त' शीर्षक लेख से मिल सकती है।

उसमें उन्होंने लिखा है—“सन् 1414 में गुजरात के सुल्तान अहमदशाह ने अपने राज्य-भर के हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करने के लिए एक

अधिकारी नियुक्त किया। उसने इस कार्य को अत्यन्त सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। अगले वर्ष, सुल्तान स्वयं ही सिद्धपुर गया और सिद्धराज के सुप्रसिद्ध रुद्र-महालय मन्दिर को उसने तोड़ा, और फिर इसको मस्जिद में बदल दिया...“कुख्यात नृशंस अत्याचारी शाह महमूद बघरा का शासनकाल (सन् 1458 से 1511) अभी प्रारम्भ होना शेष था।” स्पष्ट रूप में ‘नष्ट’ शब्द का अर्थद्योतन यहाँ इतना ही है कि केवल हिन्दू आराध्यदेव ही नष्ट किए गए थे, और उन्हीं भवनों को अपने अधीन कर मस्जिदों के रूप में इस्तेमाल किया गया था।

अहमदाबाद-स्थित कई स्मारकों को अहमदशाह के शासन से सम्बद्ध करने वाले अनेक अप्रकट भ्रान्तिकारी वर्णनों के होते हुए भी बहुत-से सूत्र हैं जो सिद्ध करते हैं कि वे इमारतें उसके द्वारा निर्मित नहीं थीं, केवल उपयोग में, व्यवहार में, लाई गई थीं।

अहमदाबाद की प्राचीन प्राचीर में घिरे हुए नगर का घनी वस्ती वाला क्षेत्र अभी भी 'भद्रा' कहलाता है। यह संस्कृत शब्द है, जिसका अर्थ "मंगलप्रद" है। इस नाम के पड़ने का कारण यह था कि यह नगर मन्दिरों से भरपूर था। वे सभी मन्दिर अब मस्जिदों में बदल दिए गये हैं। अन्य सभी नगरों की तुलना में अहमदाबाद में आज मस्जिदें ही मस्जिदें हैं। प्रायः प्रत्येक कुछ सौ गजों के अन्तर पर एक मकबरा या मस्जिद है। सबसे बढ़कर बात यह है कि वे सभी आलंकारिक राजपूत शैली में हैं।

अहमदशाह के शासनकाल में अहमदबाद की मुस्लिम जनसंख्या अत्यन्त अल्प थी। इसलिए यह असम्भव ही था कि अपनी प्रजा के इतने अल्पांश वर्गों के लिए सारी नगरी-भर में कोई शासक मस्जिदें-ही-मस्जिदें बना दे। और न ही, वह मस्जिदों और मकबरों को हिन्दू मन्दिरों की शैली पर बनवा सकता था। हिन्दू स्थापत्यकला से अगाध और एकनिष्ठ प्रेम करने वाला कोई भी व्यक्ति अहमदशाह की भौति न तो मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट करेगा, न उनको मस्जिदों में बदलेगा, और न ही मनुष्यों को लूटेगा अथवा उनका नरसंहार करेगा। अहमदशाह ने तो जल्लाद का कार्य किया था।

और भी बात है। यदि उसने (मूलरूप में) मस्जिदें बनवाई होतीं, तो 'भद्रा' नाम का पुराना हिन्दू नाम प्रचलित होने की अनुमति उसने कभी न दी होती।

भद्रा शब्द में पहुँचने के लिए 'तीन दरवाजा' नाम से पुकारा जाने वाला उंचा तीन मेहराबों वाला प्रवेश-द्वार स्वयं ही आलंकारिक हिन्दू शैली में है। इसके स्थापत्य को तुलना समीपस्थ डमोइं और पोढेरा के हिन्दू स्मारकों से को जा सकती है।

तथाकथित जामा मस्जिद

जामामस्जिद नाम से पुकारी जाने वाली, अहमदाबाद की प्रमुख मस्जिद पुराना भद्रकाली मन्दिर था। वही नगर की आराध्या देवी का स्थान था। द्वारमण्डल से लेकर अन्दर पूजास्थल तक हिन्दू-कलात्मकता की दिग्दर्शक विषम संगतरहशी है। मुख्य प्रार्थना-स्थल में पास-पास स्थित लगभग 100 से ऊपर खम्बे हैं जो केवल हिन्दू-देवियों के मन्दिर में होते हैं। बास्तविक, असली, मूलरूप में मस्जिदों के प्रार्थना-कक्ष में एक भी खम्बा नहीं होता क्योंकि सामूहिक नमाज के लिए खुला प्रांगण चाहिए।

पूजागृह के गवाझों में गढ़े हुए प्रस्तार-पुष्ट-चिह्न हैं, जो नित्याभ्यास लौटे हुए और परिवर्तित स्मारकों के सम्बन्ध में मुस्लिमों की ओर से हुआ ही करता था। इस विशाल मन्दिर का एक बड़ा भाग अब कन्द्रिस्तान के रूप में उपयोग में लाया गया है।

संगतरहशी से पुष्ट, नंजीर, घण्टियाँ और गवाझों जैसे अनेक हिन्दू लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं। देवालय की दो आयताकार चोटियों में से एक को चिल्कुल छड़ा दिया गया है, जैसा कि उन्मत्त मुस्लिम विजेताओं द्वारा नगर में प्रथम बार प्रविष्ट होने के अवसर पर हो हो सकता था।

अहमदशाह के द्वारा भीषण तबाही के पश्चात् जो भगदड़ मची उसमें ढबड़े और देखभाल में वंचित मन्दिरों के आलंकारिक प्रस्तार खण्ड अभी भी अहमदाबाद के आप गासों पर आधे गढ़े पड़े हैं। हिन्दू कलाकृति वाले बड़े-

बड़े पत्थर, जो भवनों से पिरा दिए गए थे, अब भी धूल से आच्छादित और उसी में समाए पड़े हैं। एक ऐसा ही फलक तथाकथित जामा मस्जिद के सामने महात्मा गांधी मार्ग पर स्थित जन-शैलीगार में इस्तेमाल किया गया है।

इस तथाकथित जामा मस्जिद के सम्बन्ध में एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना 1964-65 में घटी। मैंने अपने एक लेख में यह सिद्ध किया था कि जामा मस्जिद कहलाने वाली अहमदाबाद (कर्णवती उर्फ राजनगर) की वह इमारत प्राचीन नगर-देवता एवं राजदेवता भद्रकाली का मन्दिर था। मेरे इस प्रकार के लेख ई० सन् 1964 के आसपास कुछ मासिकों में प्रकाशित होने के कुछ समय पश्चात् अहमदाबाद के के०सी०ब्रदर्स (कान्तिचन्द्र ब्रदर्स) नाम की एक दुकान पुरानी होने के कारण उसके स्वामी ने उसे गिरवाकर इसी स्थान पर एक ऊँची हवेली खड़ी करवा दी। तथाकथित जामा मस्जिद के निकट ही यह हवेली इस तथाकथित मस्जिद से ऊँची हो गई। हिन्दुओं से एक नया विवाद आरम्भ कर देने का एक अच्छा अवसर मुसलमानों को मिल गया।

अहमदाबाद के तथाकथित जामा मस्जिद के विश्वस्तों (Trustees) ने के० सी० ब्रदर्स (कान्तिचन्द्र ब्रदर्स) पर न्यायालय में दावा दाखिल किया कि उन्हें उनकी नयी हवेली गिरवाने का आदेश दिया जाए। बड़े चिन्तित होकर के०सी० ब्रदर्स। इस संकट से हवेली बचाने का उपाय हितचिन्तकों से पूछने लगे। किसी ने उन्हें बताया कि पु०ना० ओक नाम के कोई इतिहास नहीं हैं जिनके कथनानुसार अहमदाबाद की जामामस्जिद प्राचीनकाल में भद्रकाली का मन्दिर था। तब उन्होंने मेरा पता ढूँढ़कर मुझे पत्र द्वारा अपनी कठिन समस्या से अवगत कराया। मेरे सुझाव पर के०सी० ब्रदर्स ने अपने बकील के द्वारा प्रतिवादी का उत्तर न्यायालय में प्रस्तुत किया। उसमें कहा गया था कि जिस इमारत को मुसलमान मस्जिद कह रहे हैं वह एक अपहत हिन्दू मन्दिर होने के कारण मुसलमानों का उस भवन पर कोई अधिकार ही नहीं प्राप्त होता, अतएव के०सी० ब्रदर्स की हवेली गिराने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह उत्तर मुसलमानों को पहुँचते ही मुसलमानों ने

बुरल अपना दाबा बापस ले लिया। उन्हें भर यह पड़ी कि यदि यह दाबा चल पड़ा तो कै०सो० बदस की हवेली गिराना तो दूर ही रहा मस्जिद कहलाने वाली इमारत ही हाथों से निकल जाएगी।

जो लोग ऐसा पूछते हैं कि यदि ताजमहल, लालकिला आदि इमारतें हिन्दुओं को सिद्ध हो जाती हैं तो उससे लाभ ही क्या है? उन्हें ऊपर लिखे कै०सो० बदस के उदाहरण से यह जान जाना चाहिए कि सत्य का शोध कभी व्यर्थ नहीं जाता। ऐसी खोज से विविध अज्ञात प्रकार के लाभ ही सकते हैं। उनमें से एक ब्यौरा ऊपर दिया गया है।

दिल्लीवाली 'जामा मस्जिद'

युरानी दिल्ली स्थित जामा मस्जिद भी अपहृत हिन्दू मन्दिर है। इन बहूत, तैमूरलंग आदि मुसलमानों ने ही साफ-साफ लिखा है कि वह मन्दिर था। तथाकथित कुतुबमीनार, लालकिले, जामा मस्जिद आदि भारत-भर की इमारतें चूने हुए गेरुए रंग के पत्थर की बनी हैं। यदि गेरुए रंग के कपड़े पहना हुआ व्यक्ति हिन्दू संसासी होता है तो क्या गेरुए रंग के पत्थर में बनी इमारत हिन्दू मन्दिर नहीं होगी? इस्लामी इमारतें या तो सफेद चूने की होती है या हरी। गेरुआ तो ठेठ हिन्दू ध्वज का रंग है। अतएव स्थान-स्थान और नगर-नगर के हिन्दू बागूत होकर अपने-अपने प्राचीन मन्दिरों एवं धर्मक्षेत्रों का कब्जा थाँगे।

उदयपुर

मेवाड़ ने महाराणाओं के नेतृत्व में पाश्चात्य इस्लामी आक्रमणों का जो छक्कर लियो था, वह प्रशंसनीय है। तथापि इससे पाठक या श्रोताओं को यह समझना चाहित नहीं होगा कि इस्लाम का ग्रन्थेश मेवाड़ में नहीं हुआ या मेवाड़ में इस्लाम को हाथ कहीं दिखाई नहीं देता।

प्रायः भारत में ऐसा एक भी प्रमुख नगर या देवस्थान नहीं बचा है जो इस्लाम ने भ्रष्ट न किया हो। प्रत्यक्ष उदयपुर में इसके कई उदाहरण देखें जा सकते हैं। इतना ही नहीं, अपितु हिन्दुओं की ही लापरवाही, अज्ञान और मूर्खता के कारण इस्लाम के पंजे और चंगुल में जो-जो हिन्दू स्थान फँसते हुए, उन्हें कुछ ही समय में इस्लाम-निर्मित स्थान ही समझा जाने लगा। गए उन्हें कुछ ही समय में इस्लाम-निर्मित स्थान ही समझा जाने लगा। हिन्दू इतिहासकार, सरकारी अधिकारी और पुरातत्त्ववेत्ताओं की यह बड़ी भूल है।

इसके असंख्य उदाहरण हैं। इस्लामी प्रचार को सत्य मानकर छोने हुए हिन्दू स्थान इस्लाम-निर्मित भवन समझने की भूल हिन्दू लोग लगातार करते आ रहे हैं।

इस सम्बन्ध में उदयपुर का एक उदाहरण देखिए। उस नगर के पिंचोला सरोवर में जगमन्दिर द्वीप है। वहाँ महाराणाजी के ग्रासाद बने हुए हैं। वहाँ भला मुसलमानों का क्या काम? मुसलमानों का तो वहाँ कोई सम्पर्क भी नहीं होता चाहिए। किन्तु वहाँ भी इस्लाम का अस्तित्व है। उस द्वीप पर एक प्राचीन शिवमन्दिर में एक सूफी कपूरबाबा का चिल्ला यानी बैठने का स्थान बताया जाता है। कपूर नाम तो हिन्दू है। वह कोई स्थानिक हिन्दू साधु रहा होगा। इसलिए इसका आश्रम शिवमन्दिर से जुड़ा हुआ था। किन्तु शाहजादा खुर्रम (शाहजहाँ) ने जब महाराणा का आश्रय माँगा तो सुरक्षा के लिए उसे उस द्वीप पर ठहराया गया। उस समय इस्लामी प्रथा के अनुसार खुर्रम के मुसलमान सरदार, दरबारी और नौकर-चाकरों ने आश्रय के लिए कृतज्ञ होने के बजाय गुम्बद पर चाँद का कलश लगा दिया और साधु कपूर के आश्रम को फकीर का चिल्ला कहना आरम्भ कर दिया। तब से मूर्खता से लोग इन इमारतों को शाहजहाँ द्वारा बनाई गई इमारतें समझते हैं। ऐसा अन्याय और अंधेर ऐतिहासिक भवनों के मूल निर्माताओं के सम्बन्ध में पग-पग पर दिखाई देता है।

अतएव सत्य इतिहास के जो भी भक्त हों उन्हें यह समझना आवश्यक है कि भारत की ही नहीं, बल्कि विश्व में जितनी भी विज्ञात

इमारतें हैं जो प्राचीन ऐतिहासिक स्थान हैं वे इस्लाम-निर्मित नहीं हैं। आरम्भ से इस्लाम की यह प्रथा रही है कि दूसरों की इमारतों पर कब्जा करना और कुछ पीढ़ियों के पश्चात् यह कहना प्रारम्भ करना कि वे भवन मूलतः मुक़तिलमानों ने हीं बनवाए।

झूलते स्तम्भ

कुछ स्मारकों में ऐसे स्तम्भ हैं जो विलक्षण इंजीनियरी कौशल के अद्भुत नमूने हैं। यदि कोई दर्शनार्थी इन स्तम्भों में से किसी की ऊपरी मंजिल पर चढ़कर, अपने दोनों हाथों से इस स्तम्भ की खिड़की को पकड़ले, कुछ क्षण बार-बार पकड़कर इसको छोड़ दे, तो उसे विचित्र अनुभूति यह होगी मानो उसके नीचे स्तम्भ का भाग हिल रहा हो। सहोदर-स्तम्भों में जाने वाला कोई भी दर्शनार्थी इसी बात का अनुभव करेगा। इंजीनियरी-कौशल का वह विस्ता नमूना और अहमदाबाद की अधिकांश तथाकथित मस्जिदों में मिलने वाला उत्कृष्ट दीवारों में चौकोर छेद का प्रकार सभी के सभी हिन्दू-स्थापत्य-प्रतिभा का परिणाम है, व्योंगि ये सब तथाकथित मस्जिदें और मकबरे पूर्वकालीन हिन्दू भवन हैं।

इस प्रकार की इमारतें, जो थोड़ा धक्का लगाने पर झूलती हैं, भारत में कई स्थानों पर हैं। उदाहरणार्थ महाराष्ट्र प्रान्त के जलगाँव जिले के महसवे और फरकाड़े नाम के दो देहातों में प्राचीन देवालयों के मीनार और दीप स्तम्भ हिलाने पर झूलते हैं। पंजाब के गुरुदासपुर नगर में भी ऐसी झूलने वाली एक इमारत है। प्राचीन स्थापत्यकला के संस्कृत ग्रन्थों में झूलने वाले भवन या स्तम्भ बनाने का रहस्य कहाँ लिखा है, इसका शोधन होना चाहिए। प्रगत समझे जाने वाले योरोपीय स्थपति स्वयं इस प्राचीन भारतीय कारीगरी पर बढ़ा आश्चर्य प्रकट करते हैं। अहमदाबाद (कण्ठावती) के झूलने वाले मीनारों की इमारत का तीन अंगेजों ने रहस्य दूँढ़ा चाहा। उनमें से एक व्यक्ति ने एक मीनार को पकड़कर खूब हिलाया। तो दोनों मिसारें ऐसी

हिलती रहीं जैसे भारती केपन से डगमगाती हैं। अन्य दो माथी बीच के आँगन में छत पर लेट गए। उनका अनुमान था कि एक मीनार हिलाने पर उसकी लहरें छतवाले आँगन से दूसरी मीनार के तले पहुँचकर उसे कंपित करती होंगी। तथापि छत के आँगन में लेटे उन दो व्यक्तियों को उनके पीठों के तले आँगन से ऐसी कोई लहरें दौड़ने का अनुभव नहीं हुआ।

धार

धार संस्कृत नाम है। यह नगरी प्राचीनकाल में समृद्धशाली साम्राज्य की राजधानी थी। इसलिए इसमें अनेक मन्दिर और राजप्रासाद थे। इनमें से अधिकांश अब मस्जिदों का रूप धारण किए खड़े हैं। उनकी बाह्यकृति ही सभी को यह विश्वास दिला देगी कि इनका मूलोदगम मन्दिरों के रूप में हुआ था। इससे भी बढ़कर बात यह है कि इस बात का लिखित प्रमाण भी उपलब्ध है। धूल में आच्छादित और दीवारों में गड़े हुए पत्थरों पर संस्कृत भाषा में साहित्य उत्कीर्ण है।

एक सुस्पष्ट उदाहरण उस स्मारक का है जो छद्यरूप में कमाल मौला मस्जिद कहलाती है। कुछ वर्ष पूर्व जब उस भवन का कुछ अंश उखड़कर नीचे गिर पड़ा, तब उसमें प्रस्तर फलक दिखाई पड़े जिन पर संस्कृत-नाटकों के पृष्ठ के पृष्ठ उत्कीर्ण किए भरे पड़े थे। अब यह सत्य प्रस्थापित हो चुका है कि 'सरस्वती कण्ठाभरण' नामक स्मारक संस्कृत-साहित्य के अनूठे पुस्तकालय के रूप में था। यह पुस्तकालय इस दृष्टि से अनूठा था कि इसमें जो साहित्य संग्रहीत था, वह नश्वर कागजों पर न होकर, प्रस्तर-फलकों पर उत्कीर्ण था। यह उदाहरण इतिहास, पुरातत्व और वास्तुकला के विद्यार्थियों को इस बात के लिए प्रेरित करने की दृष्टि से पर्याप्त होना चाहिए कि वे उन सभी मध्यकालीन स्मारकों की सूक्ष्मरूप में जाँच-पड़ताल करें, जो आज मकबरे या मस्जिदों के रूप में घोषित हैं। निश्चित है कि खोज से अवश्य जात हो जाएगा कि ये प्राचीन राजपूत मन्दिर और राजप्रासाद थे।

मराठवाडा विश्वविद्यालय की मूर्खता

भारताद्ध के पराटबाड़ा प्रदेश में एक नगर है जो प्राचीन काल में हिन्दु राजपत्री होने से कट्टकी कहलाता था। उसकी प्राकृत रूप खड़की बना रहजादा औरंगाबाद मुगल राज्य का सुबेदार बनकर उस नगर में दो बार रहा। तब से खुशास्तकारी ने कट्टकी उर्फ खड़की को औरंगाबाद कहना प्रारम्भ किया। असत स्वरूप होने पर भी वहाँ पराया नाम उस नगर से चिपका है। वहाँ से देवगिरि का किला लगभग सात मोल दूरी पर है। हिन्दू प्रथा में शुद्धारणी के नगर को किसी किले का संरक्षण अवश्य होता था। उसी आधार पर देवगिरि और कट्टकी का अटूट सम्बन्ध था।

उस नगरी से न केवल एक पर्याया नाम चिपका है, अपितु एक झुटा, क्योंकि इतिहास भी उस नगर पर मढ़ दिया गया है। बर्तमान सरकार-छाप इतिहासकार निरापार ही पढ़ते-पढ़ते रहते हैं कि अहमदनगर (हिन्दू नगर अधिकानपाल) के इस्लामी राज्य का मुख्यमन्त्री हवशी मलिकबर ने खड़की नगर बसाया। मठठवाड़ा विश्वविद्यालय का इतिहास विभाग भी औंख मूंदकर यही झुटी बात दोहराता रहता है। जब स्वयं मलिकबर कहीं नहीं कहता कि खड़की नगर उसने बसाया। अनेक बाजारों में चिका हुआ वह एक गुलाम था जो मध्यसुगीन उथल-युथल, मारकाट और विश्वासघातों के कुचल में भायबशाज निचामशाही का महामन्त्री बना। किन्तु नगर बसाना क्या हैसो-भजाक है? और क्या एक वर्ष में नगर बनाया-बसाया जाता है? और वह उसे कटकों (खड़कों) यह संस्कृत नाम क्यों देता?

ठस नगर में ताजमहल के ही नमूने पर बना एक प्राचीन विशाल शिव-
पर्णद्वारा है। उसमें गहरायाना, अनेक मंजिलों और सैकड़ों कक्ष हैं। इस्लामी
शिवाय अल्लाह को ने उसके अन्दर एक झूठी कबूल बनाकर उस इमारत को बोवी का
मकबरा घोषना आदेश कर दिया। तब से एक अफवाह वह है कि औरंगजेब
ने दिनरस्स बानु नाम की मृत देवी को बहाँ गढ़कर वह भवन रचा, अतएव
उसे खोको का मकबरा कहते हैं। दूसरी किवदन्ती यह है कि उसके पूत्र महमद

आजम ने माता के स्मारक में वह इमारत बनवाई है। यदि ऐसा होता तो अम्माजनन की कल्पना कहते, न कि बीबी का मकबरा। तीन सौ वर्ष यहीं दो अफवाएँ थीं। किन्तु 1972 में वहाँ के (College of Education) शिक्षा महाविद्यालय के एक प्राध्यापक, शेख रमझान ने एक प्रबन्ध लिखकर वहाँ के विश्वविद्यालय से Ph.D. पदवी पाई। उस प्रबन्ध में यह प्रतिपादित है कि वह इमारत न तो से Ph.D. पदवी पाई। उस प्रबन्ध में यह प्रतिपादित है कि वह इमारत न तो औरंगजेब ने बनवाई और न ही आजम ने, अपितु दिलरस बानू ने अपने ही जीवनकाल में खड़े शौक से गाँठ के छह लाख रुपये खर्च कर वह विशाल इमारत अपने प्रेत के लिए विश्राम एवं विराम स्थान हेतु बनवाई। औरंगजाबाद विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग ने सोचा कि एक इमारत, जो भिन्न-भिन्न दो मुसलमानों ने बनाई समझी जाती थी वह यदि एक तोसरा कोई मुसलमान (प्राध्यापक) लिखता है कि किसी चौथे मुसलमान की बनाई है तो भला हमें इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? अन्ततोगत्वा वह इमारत है तो किसी मुसलमान की ही। ऐसी अवस्था में वह एक नित्य मिलने-जुलने वाला, परिचित मुसलमान प्राध्यापक दो-तीन वर्ष लगाकर एक मोटा-सा प्रबन्ध लिखकर प्रस्तुत करता है तो उसे Ph.D. दे डालने में किसी के बाप का क्या बिगड़ सकता है? किसी प्रबन्ध पर ऐसे बावले प्रकार से किसी विश्वविद्यालय द्वारा Ph.D. की उपाधि दे डालना एक विश्वविद्यालय के लिए कितनी लज्जा एवं मूर्खता की बात है। इस पर रोप और विरोध प्रकट करने वाला मेरा पत्र वहाँ के दैनिक 'लोकपत' में 23 सितम्बर, 1972 के अंक में छपा था। उसमें मैंने यह आह्वान दिया था कि तथाकथित बीबी का मकबरा एक अपहृत हिन्दू इमारत है। यदि हिम्मत हो तो किसी सेवानिवृत्त न्यायाधीश की अध्यक्षता में औरंगजाबाद विश्वविद्यालय एक परिसंवाद आयोजित करे, जिसमें मेरे विरोध में वे चाहे जितने इतिहासकार खड़े करें, फिर देखते हैं किसकी जोत होती है। विश्वविद्यालय चूप ढैठ गया।

मंदिरसमाप्ति

मध्यकालीन स्मारकों के खुले प्रांगण, वार्तालाप-कक्ष भाग यात्रियों

आधार ग्रन्थ-सूची

1. हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज़ रिटन बाइ इट्स औन हिस्टोरियन्स, बाइ सर एच०एम० इलियट एण्ड प्रो० डासन, वोल्यूम्स 1 से 8।
2. अबुल फजल्लस अकबरनामा, वोल्यूम्स 1 से 3, विभिन्नोंथीका इण्डीका सीरीज़।
3. ट्रांजेक्शन्स ऑफ दि आवर्योलॉजिकल सोसायटी ऑफ आगरा।
4. दि XIX सेन्चुअरी एण्ड आफ्टर—ए मंथली रिव्यू, एडिटेड बाइ जेम्स नोल्स।
5. पीटर मुण्डेज़ ट्रेवल्स।
6. कमेटेरियस।
7. ट्रेवल्स इन इण्डिया बाइ टेबरनियर।
8. हिस्ट्री ऑफ दि शाहजहाँ ऑफ दिल्ली बाइ प्रोफेसर बी०पी० सक्सेना।
9. तारीखे-फिरोजाशाही बाइ शम्से-शीराज़-अफ़्रीफ़।
10. रैम्बल्स एण्ड रिकलैक्शन्स ऑफ एन इण्डियन आफ़िशल, बाइ ले०क० डब्ल्यू० एच० स्लीमन।
11. इम्पीरियल आगरा ऑफ दि मुगल्स, बाई केशवचन्द्र मजुमदार।
12. तारीखे-दाऊदी।
13. कीन्स हैंडबुक फॉर विजिटर्स टु आगरा एण्ड इट्स नेवरहुड।
14. महाराष्ट्र ज्ञानकोष, वोल्यूम्स 1 से 23।

को 'मदरसे' बता दिए जाते हैं। विचार करने की बात है कि मध्यकालीन इस्लामी शासन के अन्तर्गत, जब अशिक्षित शासकों का राज्य था और सम्पूर्ण शैक्षिक योग्यता का अर्थ केवल कुरान का पूर्ण पाठ करने की क्षमता-भर था और वह भी केवल मुस्लिम जनसंघ के अल्पोंश को ही पढ़ाने तक सीमित था, तो ऐसा कौन-सा शासक हो सकता था जो घोर व्यसनी और मद्यपी होते हुए भी शिक्षणालय के रूप में अतिकिशाल भवनों का निर्माण करता!

मदरसा शब्द का रहस्य— भारत में जहाँ देखो वहाँ ऐतिहासिक इमारतों के विशाल दालान बतलाते हुए स्थलदर्शक (guides) प्रेक्षकों को कहते रहते हैं, "यह मौहम्मद तुगलक का मदरसा, वह अलाउद्दीन खिलजी का मदरसा, वह अन्य मौहम्मद गवान का मदरसा, इत्यादि।" भारत में इतने देर के देर मदरसे खोलने की आवश्यकता इन आक्रामकों को क्यों पड़ी?

अतएव उस 'मदरसा' शब्द का रहस्य समझना नितान्त आवश्यक है। इस्लामी आक्रमणों से पूर्व भारत में विद्यमान संस्कृत प्रणाली के अनुसार सर्वत्र 'शाला' शब्द का प्रयोग होता था। जैसे पाठशाला, चन्द्रशाला, पीजशाला, वेदशाला, यजशाला, रंगशाला, वेधशाला, गजशाला, वैद्यशाला इत्यादि-इत्यादि। इन सारे भवनों पर कब्जा करने के पश्चात् मुसलमान जब उनमें रहने लगे तो विविध दालानों के नाम पूछने पर उन्हें 'शालाशाला' शब्द ही सर्वत्र सुनाई दिया। उसका इस्लामी अनुवाद उन्होंने 'मदरसा' कर डाला। अतएव जिस भवन में मौहम्मद तुगलक ने अपना सामान रखा वह भवन तुगलक का मदरसा कहलाया और जिस पर मौहम्मद गवान ने कब्जा किया वह सोग मौहम्मद गवान का मदरसा कहने लगे। इस 'मदरसा' नाम से ही एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि क्यूर इस्लामी आक्रामकों द्वारा कब्जा किए हुए सारे ऐतिहासिक भवन हिन्दुओं के भवन थे। दक्षिण भारत में तीमित प्रान्त की राजधानी मद्रास—इस नाम से हम कह सकते हैं कि प्राचीनकाल में वहाँ अवश्य ही कोई वेद विद्यालय दीर्घ समय तक चलता रहा होगा, अतएव उस नगर का नाम इस्लामी आक्रमण के काल में मदरसा ठंडे मद्रास पड़ गया।

सिकन्दर की पराजय जो बीर पोरस पर उसकी महान् विजय कहलाती है

भारत से शत्रुग्नि करने वाले आज के पढ़ोसियों के सुगम आक्रमणों से सर्वथा विंधन् प्राचोन भारत की सुदृढ़ सुरक्षा-पंक्ति के कारण उस समय के आक्रमणकारी लड़खड़ाते और नाक राखते हुए बापस जाने पर विवश हुए थे।

ऐसा ही एक दुसमाहसी चूनान का सिकन्दर था जिसने भारत की शांमाओं के साथ छेड़खानी करने पर अपने जीवन की कटुतम घूँट का पान किया और दुर्गति होने के कारण जो अपने प्राण ही गैंवा बैठा।

किन्तु सिकन्दर को पराजय होने पर भी, हमारे इतिहासकार उसके दुर्भाग्य को भारत की अजेय सन्तान पोरस पर उसकी महान् विजय वर्णन करते अपारं नहों। असत्य का यह ओर इतिहास भारतीय इतिहास में इसलिए पैठ गया है क्योंकि हमको उस महान् संघर्ष के जितने भी वर्णन मिले हैं, वे सबके सब पूतानी इतिहासकारों के किए हुए हैं। और यह तो सर्वज्ञात है ही कि योर परालयों से अपना मुख काला करने वाले आक्रमकारी भी अपने पराभवों को विजय के आवरण में, छवि रूप में प्रस्तुत करते हैं। यही बात सिकन्दर को भारतीय ओर सुरुषों से भिड़ना में हुई है।

सिकन्दर महान् जैसाकि वह पुकारा जाता है...“इसा पूर्व 356 में जन्मा था। वह मेसेंटोनिया के राजा फ़िलिप द्वितीय और एपिरीट की शाहजादी ओलिम्पियस का पुत्र था। अपनी राजनीति-निपुणता एवं

बुद्धिवानुर्य के लिए फ़िलिप तो विख्यात था, किन्तु कहा जाता है कि बुद्धिवानुर्य के लिए फ़िलिप तो विख्यात था, किन्तु कहा जाता है कि सिकन्दर की जाता असंस्कृत, अशिक्षित, अशोभन, एक अभिचारिणी एवं आलसी महिला थी।

जब सिकन्दर 14 वर्ष का हो गया, तब उसकी शिक्षा-दीक्षा के लिए प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू को नियुक्त किया गया। सिकन्दर का निरंकुश अदम्य साहस शैक्षिक अनुदेशों अथवा दार्शनिकतापूर्ण परामर्श के बशीभूत न हो पाया। अपने गुरु के पास विनीत भाव से बैठे रहने की अपेक्षा यात्रियों, साहसी व्यक्तियों, सैनिकों और राजदूतों के मुख से नये-नये वर्णन सुनना सिकन्दर को अधिक रुचिकर थे।

इस समय सिकन्दर के माता-पिता के मध्य परिवारिक कलह बढ़ गई और उन लोगों ने पृथक् हो जाने का निश्चय किया। फ़िलिप ने विलयोपैट्रा नामक दूसरी पत्नी बना ली। रानी ओलिम्पियस राजमहल छोड़कर चली गई। सिकन्दर, जिसका उद्दंड स्वभाव अपनी माँ के स्वभाव से ही अधिक मिलता था, अपनी माँ के साथ ही चला गया। फ़िलिप को विलयोपैट्रा से एक पुत्र प्राप्त हुआ, जो राजसिंहासन के लिए समान दावेदार बन गया।

अनेक वर्षों तक सेना को यह ज्ञात रहा था कि सिकन्दर ही शाही युवराज एवं राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी है, अतः उसके पिता की मृत्यु के पश्चात् राज्यासन को बलात् ग्रहण करने में उन लोगों ने सिकन्दर की पूर्ण सहायता की। राज्यासन पर बैठने के पश्चात् सिकन्दर ने अपने चचेरे एवं सीतेले भाई को मरवा डाला था, जिससे राजसिंहासन के लिए अन्य कोई अधिकारी न रहे।

अब सिकन्दर समाहरण और विस्तारण के मार्ग पर चल पड़ा। उसने सबसे पहले बिद्रोही पहाड़ी लोगों का दमन किया। फिर, वह पश्चिम की ओर चल पड़ा और डनूब नदी का तटवर्ती क्षेत्र अपने अधीन कर बैठा।

सिकन्दर के प्रस्थान का समाचार सुनकर ईरान के राजा ने सिकन्दर की विजयाकांक्षाओं को रोंद डालने के विचार से उससे भी अधिक संख्या में अपने सैनिक भेज दिए। दोनों की सेनाएँ ग्रेनिकस के तट पर भिड़ गईं।

ब्रह्मासान युद्ध हुआ। सूर्यास्त होते-होते ईरान की सेना के द्वारा प्रतिरोध ढीला पड़ गया और वह भाग खड़ी हुई।

'ईशिया लघु' से बाहर जाने वाले सभी मार्गों पर अब सिकन्दर का पूर्ण अधिकार था। उसने स्थानीय यूनानी उपनिवेशों को स्वतन्त्र हो जाने की घोषणा कर दी, विजित प्रदेशों पर राज्यपाल नियुक्त कर दिए और स्वयं को बोधजा कर दी, विजित प्रदेशों पर राज्यपाल नियुक्त कर दिए और स्वयं को सप्ताह घोषित कर दिया। नये ग्रहीत क्षेत्र सिकन्दर के अधीन शीघ्र इसलिए सप्ताह घोषित कर दिया। नये ग्रहीत क्षेत्र सिकन्दर के अधीन शीघ्र इसलिए सप्ताह घोषित कर दिया। नये ग्रहीत क्षेत्र सिकन्दर के अधीन शीघ्र इसलिए सप्ताह घोषित कर दिया। नये ग्रहीत क्षेत्र सिकन्दर के अधीन शीघ्र इसलिए सप्ताह घोषित कर दिया। नये ग्रहीत क्षेत्र सिकन्दर के अधीन शीघ्र इसलिए सप्ताह घोषित कर दिया। नये ग्रहीत क्षेत्र सिकन्दर के अधीन शीघ्र इसलिए सप्ताह घोषित कर दिया। नये ग्रहीत क्षेत्र सिकन्दर के अधीन शीघ्र इसलिए सप्ताह घोषित कर दिया।

एक वर्ष पश्चात् सिकन्दर ने उत्तरी फ्रिजिया में गोराडियस के राज्य पर आक्रम किया और उसे अपने अधीन कर लिया।

उसने अब 'टावर' को जा घेरा। घेरा सात मास तक चला, और सम्पूर्ण कूनिसिया उसके अधीन हो गया। बाद में गाजा पर अधिकार कर सिकन्दर मिल में चुसा। इंसा-पूर्व 332-331 के वर्ष की शीत ऋतु मिल में ही व्यतीत करने वाले सिकन्दर को ही इसी समय सिकन्दरिया की स्थापना करने का द्वेष दिया जाता है।

मध्य सागर के सम्पूर्ण पूर्वीय क्षेत्रों को अपने अधीन कर लेने के पश्चात् सिकन्दर ने अपनी ओरें ईरान पर ही लगा दी। ई०प० 331 में उसने 20 सिताम्बर के दिन टिय्रिस नदी पार की। ज्यों ही वह मोसोपोटामिया से पार गया और आगे बढ़ा, त्यों ही डेरियस के सेनापतित्व में ईरानी सेना गोगमिल नामक स्थान पर उसके समुख आ खड़ी हुई। भयंकर अन्यकालिक संघर्ष हुआ। ईरानी सेना को फिर पराजित होना पड़ा, और डेरियस मौर्छिया को भाग गया। गोगमिल के युद्ध को 'अरबिल-युद्ध' के नाम से भी पुकारा जाता है; अरबिल इस स्थान से 60 मील दूर एक नगरी है।

सिकन्दर ने परशिया-सप्ताह्य के बेबिलोन प्रदेश को भी अपने अधीन कर लिया, और ईरान की राजधानी परसोपोलिस में प्रवेश कर उस समृद्ध नगर की अपने पैरों तले गैंद डाला व फिर उसको आग लगा दी। कहा जाता है कि किसी पूर्व राजा क्षरक्षेस द्वारा यूनानी मन्दिरों को ध्वस्त कर दिए जाने

के बदले में यह जघन्य कार्य किया गया।

डेरियस उत्तर की ओर भागा। किन्तु अब उसकी खोज निरन्तर की गई। एक राजा दूसरे राजा का पीछा कर रहा था। डेरियस को घेर लिया गया। उसके साथ उसका चचेरा भाई एवं थोड़े से सरदार ही थे। ई०प० 330 की ग्रीष्म ऋतु थी। इसके पूर्व ही कि सिकन्दर के साथी आगे बढ़कर डेरियस को बन्दी बनाते, डेरियस के साथियों ने उसका प्राणाम्त कर दिया और उसका मृत शरीर सिकन्दर को सौंप दिया।

इसके बाद कश्यप (क्षीर) सागर के तटीय पहाड़ी प्रदेशों को गोदता हुआ सिकन्दर अफगानिस्तान की ओर बढ़ गया। अब उसको अपनी विजयों पर घमण्ड होने लगा था। अब वह स्वयं को अर्धेश्वर समझने लगा था और अपने को पूजन का अधिकारी समझ, बिना नू नच किए अप्रतिरोधित समर्पण चाहता था। उसने ईरानी राजचिह्न व राजोचित वेशभूषा अंगीकार कर ली।

अब सिकन्दर सिन्धु नदी पार कर भारतीय उपमहाद्वीप की सीमाओं पर आ खड़ा हुआ था। सिन्धु पार भारतीय प्रदेश के उत्तरी क्षेत्र में तीन राज्य थे। जेहलम नदी के चहुँ ओर के क्षेत्र पर राजा आमिर राज्य करता था। तक्षशिला उसकी राजधानी थी। चेनाब से लगते हुए क्षेत्रों पर पोरस का राज्य था, और एक तीसरा राजा अभिसार कश्मीर के चहुँ ओर की भूमि पर शासन करता था। राजा आमिर का पोरस से पुराना वैर था, भत्त: उसने सिकन्दर के आक्रमण के समय को अपनी शत्रुता का पूरा-पूरा बदला लेने का उपयुक्त अवसर समझा। अभिसार पोरस और सिकन्दर, दोनों को मित्रतापूर्ण व्यवहार बनाए रखने का वचन देकर तटस्थ बैठने का निश्चय कर बैठे। इस प्रकार पोरस अकेला ही रह गया, जिसको सिकन्दर का सामना करना था……सिकन्दर को आमिर से सभी प्रकार की सक्रिय सहायता प्राप्त थी।

सिन्धु के ऊपर एक स्थायी पुल बना लिया गया, और सिकन्दर को सेनाएँ भारत में प्रविष्ट हो गई। आक्रामक सेना ने अटक के उत्तर में 16 मील पर पड़ाव डाला। ग्रीक-वर्णनों में अनेक असंगतियाँ, त्रुटियाँ और न्यूनताएँ हैं जो सकती हैं, क्योंकि उनके लिए इसका स्पष्टीकरण करना कठिन है।

कि उनके मूर्तिवत् समादरित एवं आत्मशलाधी सिकन्दर ने भारत में अपेक्षित क्यों किए। इसी कारण वे यह चित्रण करने का ढोंग करते हैं कि अपनी विशालता के कारण सिकन्दर ने अपनी भारत-विजय के परिणाम व्यर्थ कर दिए थे, और वह अपनी मूल भूमि को लौट गया था।

यह विस्मरण नहीं करना चाहिए कि सिकन्दर जब अपने देश को बापस चला, तब तक उसका मद झाड़ दिया गया था, उसका दिल टूट चुका था, वह स्वयं विषम रूप में बायल हो चुका था एवं उसकी विशाल शक्तिशाली सेना बुरी तरह तहस-नहस हो चुकी थी।

स्लूटार्च के अनुसार 20,000 पदाति एवं 15,000 अश्वारोहियों की सिकन्दर को सेना पोरस द्वारा युद्धक्षेत्र में एकत्र की गई सेना से संख्या में बहुत ही अधिक थी। सिकन्दर की सहायता आमिर की सेनाओं और पारसी सैनिकों ने भी की।

महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष के सप्तम भाग के पृष्ठ 531 पर लिखा है कि सिकन्दर और पोरस की सेनाओं का परस्पर संघर्ष चेनाब नदी के तटों पर हुआ था। किन्तु कर्टियस लिखता है कि, "सिकन्दर जेहलम के दूसरी ओर पहाड़ ढाले पड़ा था। सिकन्दर की सेना का एक भाग जेहलम के एक द्वीप में पहुँच गया। पोरस के सैनिक उस द्वीप में तैरकर पहुँचे; उन लोगों ने उसका घेरा ढाल दिया और यूनानी अग्रिम दल पर हमला बोल दिया। उन्होंने अनेक यूनानी सैनिकों को मार डाला। मृत्यु से बचने के लिए अनेक यूनानी नदी में कूद पड़े, किन्तु वे सब उसी में फूट गए।"

ऐसा कहा जाता है कि अपनी सेना सहित सिकन्दर ने जेहलम नदी को एक अनी अधिरो रात में नावों द्वारा हरणपुर से ऊपर 60 मील की दूरी पर तेज़ कटाव के पास पार किया। पोरस के अग्रिम दल का नेतृत्व उसका पुत्र कर रहा था। भयंकर मुठभेड़ में वह मारा गया। ऐसा कहा जाता है कि इस दिन वर्षी हो रही थी और पोरस के विशालकाय हाथी दलदल में फँस गए। किन्तु यूनानी इतिहासकारों द्वारा दिए गए वर्णनों को भी यदि ठीक से सूक्ष्म विवेचना कर ली जाए, तो वह स्पष्ट हो जाएगा कि पोरस की गज-सेना ने

शत्रु-शिविर में प्रलय मचा दी थी और सिकन्दर की शक्तिशाली फौज को तहस-नहस कर डाला था।

एरियन ने लिखा है कि "भारतीय युवराज ने सिकन्दर को बायल कर दिया और उसके घोड़े 'बूसे फेलस' को मार डाला।"

जस्टिन कहता है कि, "ज्योही युद्ध प्रारम्भ हुआ, पोरस ने महानाश करने का आदेश दे दिया।"

अनावश्यक रक्तपात रोकने के लिए पोरस ने (उदारतावश) केवल सिकन्दर से अकेले ही निपट लेने का प्रस्ताव रखा। सिकन्दर ने उस (बीर-प्रस्ताव) को अस्वीकार कर दिया। आगे जो युद्ध हुआ उसमें उसका मर्मांतक आघात के कारण उसी के नीचे ढेर हो गया। 'धड़ाम' से युद्धभूमि में गिर जाने पर सिकन्दर को शत्रुओं से घिर जाने का भय उत्पन्न हो गया, किन्तु उसके अंगरक्षकों द्वारा वह वहाँ से लुक-छुपकर खिसका दिया गया।

पोरस के हाथियों द्वारा यूनानी सैनिकों में उत्पन्न आतंक का वर्णन करते हुए कर्टियस ने लिखा है—"इन पशुओं ने घोर आतंक उत्पन्न कर दिया था, और उनकी (तूर्यवादक जैसी) प्रतिष्ठनित होने वाली भीषण चील्कार न केवल घोड़ों को भयानुर कर देती थी जिससे वे बिगड़कर भाग उठते, अपितु युद्धस्वारों के हृदय भी दहला देती थी। इसने इनके बांहों में ऐसी भगदड़ मचायी कि अनेक विजयों के ये शिरोमणि अब ऐसे स्थान की खोज में लग गए जहाँ इनको शरण मिल सके, अब सिकन्दर ने छोटे शास्त्रास्त्रों से सुसज्जित अग्रेनियनों एवं थ्रेसियनों को आज्ञा दी कि वे गज-सेना के विरुद्ध कार्रवाई करें। इस प्रत्याघात से चिढ़कर उन आहत पशुओं ने कुछ हो, आक्रमणकारियों पर भीषण हमला कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप वे लोग उनके पैरों तले रौंद ढाले गए। सर्वाधिक हृदय-विदारक दृश्य तो वह था जब यह स्थूल-चर्म पशु अपनी सूँड से यूनानी सैनिक को पकड़ लेता था, उसको अपने ऊपर बायुमण्डल में अधर हिलाता था, और उस सैनिक को अपने आरोही के हाथों में सौंप देता था … जो तुरन्त उसका सिर धड़ से अलग कर देता था। इस प्रकार, परिणाम सन्देहासद था।

कभी मेसेहोनिवन लोग हाथियों के पीछे भागते थे, और कभी उनसे दूर-दूर भागने को विवश हो जाते थे। इसी प्रकार सारा दिन व्यतीत हो जाता था, और युद्ध चलता ही रहता था।"

डियोहोरस सत्यापित करता है कि "विशालकाय हाथियों में अपार बल था, और वे अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुए। उन्होंने अपने पैरों तले बहुत सारे यूनानी-सैनिकों की हड्डियाँ-पसलियाँ चूर-चूर कर दी। हाथी इन सैनिकों को अपनी सूँड़ों से पकड़ लेते थे और भूमि में जोर से पटक देते थे। वे अपने विकराल गज-दलों से सैनिकों को गोद-गोदकर मार डालते थे।"

ये सब वर्णन स्पष्टतः प्रदर्शित करते हैं कि युद्ध था तो सूखी जमीन पर लड़ा गया था, अथवा यदि पूर्मि गौली थी थी, तो भी उसमें पोरस की गज-सेना दल-दल में नहीं फैसी थी—जैसा कि असत्य प्रचारित किया जाता है।

पोरस की ओर सेना द्वारा शत्रु-हृदय में प्रस्थापित भयंकर आतंक के इन वर्णनों के होते हुए भी एक प्रकार अधिक यूनानी वर्णनों में दावा किया गया है कि पोरस घायल हुआ था, पकड़ा गया था और उसकी सेना को शस्त्र त्याग करने पड़े थे।

अनुवर्ती घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त धारणा मनावन्त एवं स्वार्थप्रेरित विभान्ति है। यूनानी इतिहासकारों की इच्छा यही रही है कि हम विश्वास करें कि असंख्य नरमेघ, क्लूर हत्याओं और सम्पूर्ण समृद्ध नारियों का ध्वंसकर्ता सिकन्दर उस समय अत्यन्त प्रफुल्लित हुआ था जब बन्दी बनाए जाने पर पोरस ने उससे निर्भीकता से अपने साथ राजा जैसा व्यवहार करने को कहा था, और सिकन्दर ने न केवल उसे उसका प्रदेश बदामतावश बापस कर दिया था, अपितु अपनी ओर से भी कुछ और प्रदेश पोरस को दे दिया।

'ईथोपियाई महाकाव्यों' का सम्पादन करने वाले श्री ई० ए० डब्ल्यू० जैन ने अपनी रचना में सिकन्दर के जीवन और उसके विजय अभियानों का वर्णन सम्पादित किया है। उनका कहना है कि, "जेहलम के युद्ध में सिकन्दर का अखब सेना का अधिकांश भाग मारा गया था। सिकन्दर ने

अनुभव कर लिया था कि यदि मैं लड़ाई जारी रखूँगा, तो पूर्ण रूप से अपना नाश कर लूँगा। अतः उसने युद्ध बन्द कर देने के लिए पोरस से प्रार्थना की। भारतीय परम्परा के सत्यानुरूप ही पोरस ने शरणागत शत्रु का वध नहीं किया। इसके बाद दोनों ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए। अन्य प्रदेशों को अपने साम्राज्याधीन करने में, फिर, पोरस की सहायता सिकन्दर ने की।"

सिकन्दर की पराजय के लिए श्री बैज द्वारा दिया गया कारण यह है कि उसके सैनिक युद्ध में अपने हजारों साथियों की क्षति से अति दुःखित हो चुके थे। उन्होंने अपने शस्त्रास्त्र फैक दिए और अपने नेता से शान्ति के लिए प्रयत्न करने की प्रार्थना की। श्री बैज का कहना है कि शान्ति की प्रार्थना करते समय सिकन्दर ने निवेदन किया था—"श्रीमान् पोरस! मुझे क्षमा कर दीजिए। मैंने आपकी शूरता और सामर्थ्य शिरोधार्य कर ली है। अब इन कष्टों को मैं और अधिक सह नहीं सकूँगा। दुःखी हृदय हो मैं अब अपना जीवन समाप्त करने का इरादा कर चुका हूँ। मैं नहीं चाहता कि मेरे सैनिक मेरे ही समान बिनष्ट हों। मैं वह अपराधी हूँ जिसने इन सैनिकों को कराल काल के गाल में धकेल दिया है। किसी राजा को यह शोभा नहीं देता कि वह अपने सैनिकों को इस प्रकार मौत के मुँह में धकेल दे।"

अनुवर्ती घटनाओं द्वारा प्रस्तुत ऐसे स्पष्ट साक्ष्यों के होते हुए भी इतिहासकार उपर्युक्त उद्धरण को प्रक्षिप्तांश कहने और इसीलिए उनकी अबहेलना करने के दुराग्रह पर अड़े हुए हैं। तर्क के लिए यह मान लेने पर भी कि उपर्युक्त उद्धरण प्रक्षिप्तांश ही हैं, हम यह प्रश्न करते हैं कि पोरस के सिर को डेरियस के सिर की भाँति काट लाने की शापथ खाकर युद्ध में प्रविष्ट होने वाले सिकन्दर ने न केवल पोरस को जीवन-दान दिया, अपितु उसको बन्दी अबस्था से मुक्त किया, उसको उसका सम्पूर्ण राज्य लौटा दिया और सद्भावनावश पुरस्कार रूप कुछ और प्रदेश भी भैंट में दे दिया। यह कथन उतना ही हास्यापद तथा अयुक्तियुक्त है जितना यह कहना कि किसी पुरस्कार-वितरण समारोह में सहसा प्रकट होकर अपना शोश तीव्र गति से हुँड़ावस्था में हिलाने वाला भयंकर विषधर-अकस्मात् ही मुस्कराता हुआ

आकर्षक राजकुमार बन गया और पुरस्कार-वितरण करने लगा।

यही तथ्य, कि पोरस ने सिकन्दर से अपना प्रदेश खोने की अपेक्षा कुछ जीता ही था, प्रदर्शित करता है कि सिकन्दर ने न केवल शान्ति के लिए क्षमा-याचना की, अपितु यह भी कि उसका पराभव इतना पूर्ण था कि उसे अपने कुछ भू-क्षेत्र भी पोरस को भेट करने पड़े थे। इन यूनानी वर्णनों पर भी विश्वास करते हुए कि सिकन्दर ने कुछ भू-प्रदेश जीतने में पोरस की सहायता की थी, यह भी विलक्षुल स्पष्ट है कि अपना घर्मंड विलक्षुल चूर-चूर हो जाने पर सिकन्दर ने अत्यन्त द्यनीयावस्था में पोरस का सहायक हो सेवा करना स्वीकार कर लिया और भारत में अतिक्रमण कर प्रविष्ट होने के दण्डस्वरूप पोरस के लाभार्थ कुछ भू-प्रदेश जीतने का वचन दिया।

सिकन्दर का सामर्थ्य प्राचीन भारत की प्रतिरक्षात्मक लौह-दोवार से टकरा-कर ऐसा चूर-चूर हो गया था कि पोरस के साथ युद्ध के पश्चात् उसके सैनिकों ने और आगे युद्ध करने से विलक्षुल साफ इन्कार कर दिया। यह भली-भाँति कल्पना की जा सकती है कि जब पोरस अकेला ही सिकन्दर और आम्बि की मिली-जुली सामर्थ्य को धूल में मिला सकता था, वो सिकन्दर कभी भी सिन्धु नदी के पार नहीं आता यदि केवल आम्बि की राष्ट्रभक्ति और न्यायबुद्धि पोरस के प्रति उसके शत्रु भाव की दास न हो जाती।

वापस जाने का निश्चय भी कर लेने के पश्चात् यह स्पष्ट है कि सिकन्दर को उन प्रदेशों से होकर जाने को अनुमति नहीं मिली थी, जिनको उसने पहले जीता था और जिनको भली-भाँति जानता था।

वह लिखित तथ्य भी कि अभिसार ने सिकन्दर से मिलने से इन्कार कर दिया था, सिकन्दर की पराजय का संकेतक है। जैसाकि दावा किया जाता है, यदि वास्तव में सिकन्दर ने पोरस की राजित का पराभव किया होता तो अधी तक तटस्थ रहने वाला अभिसार शान्ति बनाए रखने एवं मित्रता अर्जन करने के लिए इटपट सिकन्दर के पास दौड़कर गया होता।

ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार तो हमें विश्वास कर लेना चाहिए कि

सिकन्दर की सेनाएँ बिना प्रतिरोध के, बिना किसी रोक-टोक के, चेनाब तथा रावी नदी पार कर गई थीं। यह स्पष्ट रूप में दर्शाता है कि जब पोरस ने अपने रावी नदी पार कर गई थीं। यह स्पष्ट रूप में दर्शाता है कि सिन्धु के तत्काल शत्रु सिकन्दर को आम्बि के उत्तरी प्रदेश और वहाँ से मिन्चु के हृदयताबाश अपने प्रदेश के मार्ग से सुरक्षित चले जाने में सहायता देने का आश्वासन दिया था, यदि सिकन्दर दक्षिण की ओर जाता।

ज्यों ही सिकन्दर की सेनाओं ने रावी नदी पार की, ज्यों ही भारत की द्वितीय सुरक्षा पंक्ति ने अपना जौहर दिखाया। पोरस ने अपने ही भू-प्रदेश द्वारा उनको संरक्षात्मक व्यूह-रचना में सन्दर्भ कर दिया था। किन्तु उसे ज्ञात था कि हमारे बीर क्षत्रियों द्वारा पूर्ण सन्दर्भता एवं उत्साहपूर्वक आरक्षित भारत के अन्य भागों से भी सिकन्दर अक्षत नहीं जा सकता था। इतना ही नहीं, जब वह अन्य रास्ते से लौटकर जाता तब उसकी बापसी पर उसकी पूरी चटनी बनाई जाती, और विश्व-विजेता होना तो दूर, उसे तो असहाय एवं अकिञ्चनावस्था में पहुँचा दिया जाता। यही हुआ भी। अतः इतिहास को यह अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए कि एक पराभूत शत्रु की अपेक्षा पोरस का सम्मान तो उस भारतीय महान् नेता और राजनीतिज्ञ के रूप में अवश्य किया जाना चाहिए जिसने सिकन्दर के अभिमान और उसकी सेना को चूर-चूर कर दिया था; और निर्मद, शोकाकुल एवं प्रायशिचतकर्ता के रूप में ही सिकन्दर को वापस घर भेजने के लिए बाध्य कर दिया था।

रावी और व्यास नदी के मध्य भाग में सिकन्दर की सेनाओं को अनेक विकट लड़ाइयाँ लड़नी पड़ी थीं। प्राचीन काल में भारतीय सेनाएँ इतनी सावधान एवं सतर्क थीं कि वे किसी भी प्रकार का सशस्त्र अतिक्रमण सहन नहीं करती थीं। प्रत्येक नागरिक एक सैनिक था। राष्ट्रभक्ति का स्थान किसी भी प्रकार अपवित्र दयाभाव नहीं ले पाता था। व्यास के तट पर पहुँचते-पहुँचते सिकन्दर के सैनिकों ने और आगे कोई भी लड़ाई लड़ने से साफ़ इन्कार कर दिया क्योंकि शस्त्रधारी होने के कारण उनको प्रत्येक पग पर रोका गया था। विकट सशस्त्र प्रतिरोध किया गया था; वे भूखे रहे थे, उनको घर

की याद सजाने लगी थी, वे क्षति-विक्षत एवं युद्ध करने से थक चुके थे। वे अनेक युद्ध लड़ चुके थे। पोरस के साथ उनका युद्ध एशिया में चौथा एवं अन्तिम महान् संघर्ष था। इसकी भयावह स्मृतियाँ उनके लिए हृदय कम्पित कर देने वाली थीं।

बिन मार्गों से सिकन्दर बापस जा रहा था, उसमें उसका आगमन अभिनन्दनीय न होने के कारण सिकन्दर के भूखे मरते सैनिकों ने असावधान नागरिक-समुदायों को लूटा शुरू कर दिया। किन्तु इस तथ्य को यूनानी वर्णनों में इस असत्य दावे का प्रमाण कहकर प्रस्तुत किया गया है कि पोरस के तथाकथित पराभव के पश्चात् और अधिक प्रदेशों को जीतने एवं लूट का माल एकत्र करने के लिए सिकन्दर दक्षिण की ओर मुड़ गया।

सिकन्दर सिन्ध और मकरन के मार्गों से बापस गया। प्रत्येक स्थान पर उसकी शोचनीयावस्था को प्राप्त सेना के विभिन्न वर्ग भारतीयों द्वारा छुटपुट आक्रमणों, पुख्यमरी एवं रोगों से ग्रस्त होकर संख्या में कम-ही-कम होते गए।

इस बापसी के समय 'मलाबी' नामक एक भारतीय जनजाति ने सिकन्दर के यूनानी राजसी झुण्डों का कड़ा मुकाबला किया। इसमें होने वाली अनेक मुठभेड़ों में स्वयं सिकन्दर भी घायल हुआ था। एक संघर्ष में तो उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाने वाले थे। प्लूटार्च ने उल्लेख किया है, "भात में सबसे अधिक खूबार लड़ाकू जाति मलाबी लोगों के द्वारा सिकन्दर की देह के टुकड़े-टुकड़े होने ही वाले थे.... अपनी छोटी-सी टुकड़ी और स्वयं अपने को ही इन बर्बर लोगों के तीर-भालों के भयानक संघातों से परेशान पाकर वह इन लोगों के मध्य में कूद पड़ा। उन लोगों ने हाधामाई तक में भयंकर आक्रमण किया। उनकी तलबारें और भाले सिकन्दर के कब्जे को भैंद गए और उसे भयानक रूप में आहत कर दिया। शत्रु का एक रात-संधान इतने प्रबल बेग से हुआ था कि वह उसके जिरह-बछार को पासकर गया और उसकी पसलियों में घुस गया। सिकन्दर घुटनों के बल जा गिया। उसी समय उसका शत्रु तलबार लेकर उसका शोष उतारने के लिए

दौड़ पड़ा। यूसेस्टस और लिनेयस ने स्वयं की सिकन्दर की रक्षार्थ आगे बढ़ायी तुलना में एक तो मार डाला गया और दूसरा अत्यन्त घायल हो गया।"

इसी मारकाट के बीच में सिकन्दर की गर्दन पर भारी मोटे सिरे वाली छड़ी का प्रहार हुआ। उसका अंगरक्षक उसे उसकी अचेतावस्था में ही किसी सुरक्षित स्थान पर ले गया।

सिकन्दर को बहुत बार एक महान् और नेक राजा के रूप में चित्रित किया गया है। किन्तु एरियन लिखता है कि, "जब बैकिट्रिया के बसूस को बन्दी बनाकर सिकन्दर के सम्मुख लाया गया, तब सिकन्दर ने अपने सेवकों से उसको कोड़े लगवाए और उसके नाक और कान कटवा डाले। बाद में बसूस को मरवा डाला गया। सिकन्दर ने कई फ़ारसी सेनाध्यक्षों को नृशंसतापूर्वक मरवा दिया था। फ़ारसी राजचिह्नों को धारण करने पर सिकन्दर की आलोचना करने के अपराध में सिकन्दर को स्वयं अपने ही गुरु अरस्तु के भतीजे कलस्थनीजा को मरवा डालने में भी कोई संकोच नहीं हुआ था। क्रोधावस्था में उसने अपने ही मित्र क्लाइटस को मर डाला था। उसके पिता का विश्वारापात्र सहायक परमेनियन भी सिकन्दर के द्वारा मौत के घाट उतार दिया गया था। जहाँ कहीं भी उसकी सेना गई, उसने समस्त नगरों में आग लगा दी, महिलाओं का अपहरण किया और बच्चों को भी तलबारों की धारों पर सूत डाला। 'ग्लाम्पसिस ऑफ बर्ल्ड हिस्ट्री' के 72वें पृष्ठ पर स्वर्गीय जबाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि, "सिकन्दर वृथाभिमानी, उद्धत और अत्यन्त क्रूर व हिस्क था। वह स्वयं को ईश्वर के समान ही समझता था। क्रोध के क्षणों में अथवा आवेशावस्था में उसने अपने ही सर्वोत्तम मित्रों के पुत्रों का चध किया, और महान् नगरों को उनके निवासियों-सहित ही पूर्णतः ध्वस्त कर दिया।"

अन्य धर्मों की महिलाओं में ईरान की दो शाहजादियों की सिकन्दर ने अपने घर में डाल लिया था। उसके सेनापतियों ने भी, जहाँ कहीं वे गए, अनेक महिलाओं को बलपूर्वक अपनी रखैल बनाकर रख लिया था।

भारत में उसका संघर्ष उसकी गोत का परवाना बन गया था। अपने भर वापिस जाते समय वह मौजिया में शिविर लाले पढ़ा था, उसकी सेना में भर्याचर लिहोह फैल गया। सिकन्दर ने मेसेहोनियों को बर्खास्त कर देने और अन्य जातियों में से सेना में भर्ती कर लेने की धमकी दी। बहुत कठिनाई से विद्रोह शान्त हुआ और सिकन्दर ई० पू० 323 में वेविलोन पहुँचा।

वेविलोन से प्रस्थान करने की निश्चित तिथि से दो दिन पूर्व सिकन्दर अपने मिल मीडियम के घर पर एक भोज में गया हुआ था। भारत-विजय करने में गवीला भगवक नीचे कुक जाने की कटु स्मृतियों को भुला देने के लिए अत्यधिक मध्यपान के कारण वह अवसास हो गया। उस समय वह केवल 33 वर्ष का था। जब चढ़ा हुआ और भी तेज़ हो गया। 10 दिन के बाद उसकी बाक़राकित लुप्त हो गई, और फिर ई०पू० 323 में जून की 28 शारीख को वह अचेतावस्था में मर गया। सिकन्दर के मरणोपरान्त 'ओगस' भगवक एक पुत्र जन्मा था, किन्तु कुछ महीनों के भीतर ही सिकन्दर की पली एवं अदोष शिशु मार डाले गये।

आधार-ग्रन्थ सूची

1. प्रोफेसर हरिहरन सेट्स रिसर्च पेपर ऑन दि टापिक, रैड एट दि इतिहासाद सीशन (1938) ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री कॉंफ्रेस।
2. प्रोफेसर एस० एल० बोथनकर्स आर्टिकल्स ऑन दि टापिक।
3. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश।
4. इष्टियोगिक टैक्सट्स एंड टेल बाई ई० ए० डब्ल्यू बैज।
5. 'एन्टरप्रिस ऑफ बहुहिस्ट्री' बाई जवाहरलाल नेहरू।

तथाकथित 'आर्य जाति'—संज्ञा भारी भूल करने वाले पश्चिमी इतिहासकारों की कल्पना-सृष्टि है

अपने घृणित साम्राज्यवाद की तरंग में 18वीं शताब्दी में एशिया को रोंदते हुए पश्चिमी इतिहासकार मनगढ़न्त सिद्धान्तों को सृष्टि करने एवं उनको संसार के पराधीन राष्ट्रों के बलात् गले उतारने में लग गए।

मानसिक दृष्टि से उदासीन संसार पर थोपा गया इस प्रकार का मिथ्याधारित एक विचार—‘एक छायाभास-तथाकथित 'आर्य जाति' का होना था। तभी से विद्वानों की बहुत बड़ी संख्या, एक के बाद एक, 'आर्य' की परिभाषा करने, उनकी भाषा अथवा भाषाओं को जानने एवं उनके मूल देश का पता लगाने के दुष्कर कार्य में लगी हुई है।

छाया के पीछे इस प्रकार दौड़ने का परिणाम अत्यन्त नैराश्य एवं पूर्ण विफलता के अतिरिक्त कुछ होना ही नहीं था क्योंकि संस्कृत शब्द 'आर्य' की अरुद्ध व्याख्या और मौलिक भ्रान्तियों के कारण उत्पन्न अपनी ही कल्पनासृष्टि में तथाकथित 'आर्य जाति' का छायाभास, भारी भूल करने वाले पश्चिमी विद्वान्, कर बैठे।

अब साह्य उपलब्ध है कि 'आर्य जाति' कभी थी ही नहीं, और इसीलिए उनका लहरों की भाँति एशिया और यूरोप में फैल जाना दृश्यमान सत्यता का घोर उपहास प्रतीत होता है।

संस्कृत-भाषी भारतीयों ने 'आर्य' शब्द की सृष्टि आदर्श के द्योतक के रूप में की थी। भारतीयों के लिए 'आर्य' शब्द सुसंस्कृतजन, पूर्ण कुलीन

व्यक्ति, आदर्श मनुष्य, अतिमानव का द्योतक था। महान् आदर्शवादी एवं आचरण की शुद्धता के दृढ़ पोषक व्यक्ति होने के कारण उन लोगों ने 'आर्य' की कल्पना उद्विकास को ऐसी स्थिति में की जिसमें पहुँच जाने की आकांक्षा, अभिलाषा प्रत्येक व्यक्ति को करनी चाहिए।

इस सत्य का, सभी भारतीयों के लिए आदर्श वाक्य 'कृष्णन्तो विश्वमार्यम्' अर्थात् 'सर्व विश्व को आर्य बनाओ' से बढ़कर और कौन-सा उत्तम प्रमाण होगा! यदि 'आर्य' शब्द किसी जाति का द्योतक रहा होता, तो उपर्युक्त आदर्श वाक्य प्रयोग एवं व्यवहार में नहीं आता व्योंकि जातिभावना की दृष्टि से प्रबुद्ध व्यक्ति, संसार को अपने समुदाय में सम्मिलित करना तो दूर, अपनी सत्ता सर्वथा पृथक् बनाए रखने में ही विश्वास रखते हैं।

प्राचीन भारत में पति अथवा राजा को सम्बोधन करते समय 'आर्य' शब्द का नित्य व्यवहार करना भी एक अन्य प्रमाण है। पति के लिए व्यवहार में आने वाला एक अन्य शब्द 'वर' है। संस्कृत में 'वर' शब्द अत्यधिक श्रेष्ठ व्यक्ति का द्योतक है, अतः 'आर्य' शब्द भी उसी भावना का समानार्थक है।

अतः 'आर्यों' को एक जाति समझना—और जाति में भी एक ऐसी जाति समझना जिसने अपने आपको सदैव तथाकथित 'दस्युओं या दासों से पृथक् समझा एवं निर्दयतापूर्वक उनका दमन किया—एक ऐसी भयंकर भूल है जिसने प्राचीन भारत एवं विश्व-इतिहास के अध्ययन को भ्रष्ट कर दिया है।

'आनुबंशिकता, जाति और समाज' नामक अपनी पुस्तक में भी उन और डोबड़ान्स्की ने इसी प्रकार का विचार प्रकट किया है। जब उन्होंने लिखा, 'मैक्समूलर ने... किसी दुर्दिन हो 'आर्य जाति' शब्द का प्रयोग किया था। इसीसे वास्तव में, केवल बातों ही बातों में एक काल्पनिक प्राणी...' 'आर्य मानव की उत्पत्ति हो गई।'

भारतीय इतिहास की पुस्तकें हमको प्रारम्भ से ही तोते-की-सी-रट में यह सिखाने लगती है कि हम लोग अन्य देशों यहैं, तथा भारत के मूल निवासी लोग तो आदिवासी हैं। हमें विश्वास करने को कहा जाता है कि हम अन्य देशों लोगों ने भारत पर आक्रमण किया और यहाँ के मूल निवासियों

का प्रायः बंशलोप हो कर दिया। उस महाविष्वेस में भी जो लोग बच सके, वे आर्य जीवन में ही समा गए। इस घृणित धारणा पर निकट से पुनर्विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

मानवों को देखने एवं श्रेणीबद्ध करने का एक ढंग उनकी रूप-रचना पर आधारित है। इस प्रकार कहा जाता है कि हमारा यह संसार चार बड़े भागों में विभक्त है—श्वेत, श्याम, ताप्र एवं पीत वर्ण। जहाँ तक यह बात है, वहाँ तक तो ठीक है। किन्तु, श्वेत वर्ण वालों को 'आर्यों' की संज्ञा से विभूषित करना एक भयंकर ऐतिहासिक भूल है। जैसा पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, 'आर्य' शब्द तो 'सज्जन', 'संसुस्कृत' व्यक्ति का पर्याय था। अतः उपर्युक्त चारों वर्ण अथवा इनमें से कोई भी 'आर्य' कहा जा सकता था। यथार्थतः होता भी ऐसा ही है। जर्मन और ग्रीक लोग, जो श्वेत-वर्ण हैं, तथा भारतीय, जो ताप्र वर्ण लोगों की श्रेणी में रखे जाते हैं; सभी के सभी 'आर्य' समझे जाते हैं।

'आर्यों का देशान्तर गमन' का सम्पूर्ण सिद्धान्त इस प्रकार क्षीण आधार पर स्थित है।

इसके पश्चात् आर्यों के आदि-स्थानों तथा उनके भारी संख्या में दो बार देशान्तर गमन के समय प्रयुक्त मार्ग 'अ' और 'ब' के सविस्तार वर्णन प्रारम्भ हो जाते हैं। इन वर्णनों को पढ़कर आश्चर्य यह होता है कि वह कौन-सा भाग्यशाली वृत्त-लोकक था जो इन आर्यों की दो लहरों द्वारा किए गए देशान्तर गमन के साथ अपनाए गए मार्ग का अवलोकन करने एवं चित्रण करने के लिए उनके साथ-साथ उछल-कूद करता रहा अथवा किसी ऊँची-पहाड़ी चट्टान पर विद्युक्त हो विश्रामावस्था में बैठा रहा। मालूम पड़ता है, किसी भी नये सिद्धान्त को स्वीकार करने से पूर्व सभी प्रकार के कटपटाँग एवं सतर्कतापूर्ण प्रश्न करने वाले इतिहासकार बिना किसी प्रकार के प्रश्न एवं उन पर विचार किये ही आर्य-जाति और उनके देशान्तरगमन के सिद्धान्तों को 'निगल' गये हैं।

ऋग्वेद की केवल 3,000 वर्ष पुराना घोषित करने की मैक्समूलर की प्रारम्भिक भूल ने एक अन्य भयंकर भूल को जन्म दिया जब यह विश्वास

करने को कहा गया कि 5,000 वर्ष पूर्व हुए मोहन-जोदहो निवासी अवश्य ही बेद-पूर्व सभ्यता के लोग थे। किन्तु मोहन-जोदहो में शिवफलक की उपलब्धि एवं सिन्धु-माटी की लिखावट में वेदों के नामों के स्पष्टोल्लेखों ने परिचयी विद्वानों की मान्यताओं को पूर्ण रूप में भू-लुण्ठित कर दिया है। अब यह नहीं कहा जा सकता कि मोहन-जोदहो की सभ्यता द्रविड़ों की बेदपूर्व की सभ्यता थी। साथ ही, इसने यह भी सिद्ध किया है कि यह भारणा कि ऋग्वेद केवल 3,000 वर्ष पुराना है, अविश्वसनीय है।

जहाँ तक इस धारणा का सम्बन्ध है कि वेदों में वर्ण (रंग)-संघर्ष के प्रमाण उपलब्ध हैं, यह बात ध्यान रखने की है कि इन तथाकथित आयों में स्वयं ही श्याम-वर्णी एवं श्वेतवर्णी लोग थे। तथ्य रूप में 'वर्ण' शब्द सदैव रंग का द्योतक नहीं है। यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की भाँति वर्ग या श्रेणी बताता है। ऋषि कवच का रूप श्याम था, इसी प्रकार इन्द्र भी था। वेदों में किसी वर्ण (रंग), संघर्ष की बात होना तो दूर, बहाँ तो हम इन दोनों को एक तृतीय पक्ष द्वारा शाश्रु के रूप में एक ही श्रेणी में रखा गया पाते हैं (ऋग्वेद 10-83)।

क्या इसका अर्थ यह लगाया जाए कि 'वास्तविक' श्वेत आयों द्वारा भारत पर 'आक्रमण' किए जाने से पूर्व मूल 'आयों' की एक उपजाति भारत में पहले ही विद्यमान थी?

लोकमान्य तिलक द्वारा वेदों में उत्तर-धूर्वाय भूगोल की उपलब्धियों के अन्दर्भौं का केवल एक ही अर्थ ही सकता था कि वैदिक ऋचाओं के स्थान विश्व की चहुं दिशाओं में शिक्षा, विज्ञान और संस्कृत प्रचार-प्रसार के अपने आदर्श से प्रेरित होकर अपनी गवेषणात्मक साहसिकता में उत्तरी-धूर्व की दुर्गम दूरी तक जा पहुंचे। इस पर हाँ० अविनाशचन्द्र दास ने अपनी मुस्तक 'ऋग्वैदिक भारत' में पूर्ण प्रकाश ढाला है।

ऋग्वेद का सम्पूर्ण अध्ययन स्पष्ट करेगा कि दस्यु लोगों की ऐसी कोई प्रति-जाति नहीं थी जो तथाकथित 'आयों' से मनोवैज्ञानिक विशिष्टताओं में भिन्न हो।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आर्य लोग कोई एक

जाति न होकर सुसंरक्षित मानव का भारतीय आदर्श था। दूसरी बात यह है कि समस्त विश्व में मिलने वाले संस्कृत-संस्कृति के चिह्नों का मूल 'आर्य' जाति या भाषा से न होकर संसार के सभी ओर-छोर में ज्ञान और संस्कृति का प्रकाश पहुंचाने को तत्पर संस्कृत भाषी भारतीयों के प्रारम्भिक प्रयत्नों का परिणाम है।

चूंकि 'आर्य-जाति' नाम की कोई जाति हुई ही नहीं, इसलिए उनके मूल निवासस्थान, उनके देशान्तरगमन तथा उनकी मूलभाषा के लक्षणों को हूँड़ निकालने के सभी प्रयत्न निष्फल होने ही थे—जैसे कि वे सचमुच हुए भी हैं। 'आर्य-जाति' की विद्यमानता में यह विश्वास बनाए रखना ऐतिहासिक अन्वेषण की भद्रंकर भूल रही है। इसका प्रतिवाद करने की अत्यन्त आवश्यकता है। आयों का एक जाति तथा परिकल्पित देशान्तर-गमन के रूप में वर्णन करने वाले सभी सन्दर्भों को विश्व-इतिहास से निकाल फेंकना चाहिए।

प्राचीन भारतीयों ने प्रत्येक व्यक्ति को श्रेष्ठतर और महानतर बनाने का लक्ष्य अपने सम्मुख रखा था जिससे प्रत्येक मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर सके। सामान्य मानवता और दैवांश के मध्य की इस अवस्था को प्राचीन भारतीयों ने 'आर्य' नाम से पुकारा था। अतः 'आर्य' शब्द केवल मात्र श्रेष्ठ आत्मा का अर्थ-द्योतक है। सौहांश्रु, शिष्टता, शालीनता और सदगुणों के प्रतीक के रूप में व्यक्ति को 'आर्य' संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था।

आधार ग्रन्थ-सूची

1. सम आर्टिकल्स ऑन दि टोपिक रिटन बाई डॉक्टर एन० आर० वरहद पाण्डे, ऑफ न्यू देहली।
2. हैरिडिटी, रेस एण्ड सोसायटी, बाइ डन एण्ड डोन्जान्सकी।
3. दि संस्कृत लैंग्वेज, बाइ टी० मुरो।
4. दि वैदिक इंडैक्स, बाइ कीथ एण्ड मैकडोनल्ड।
5. ऋग्वैदिक इण्डिया, बाइ डॉक्टर अविनाशचन्द्र दास।



पुरुषोत्तम नागेश ओक

जन्म : 2 जार्ं 1917, इन्दौर (मध्य प्र०)
 विद्या बम्बई विश्वविद्यालय से एम० ए०, एल-एल० भी०
 जीवन कार्य एक तक अध्यापन कर सेना में भर्ती।

द्वितीय विश्व युद्ध ने सिंगापुर में नियुक्त। अंगरेजी सेना हारा राष्ट्रपण का उपरान्त आजाद हिन्दू फोड़ के स्थापन में महग लिया, संगीत में आजाद हिन्दू रेडियो में निरंतरका के कार्य में कार्य किया।

विश्व युद्ध की समाप्ति पर कई देशों के जगतों में घूमते हुए छत्रकश्चा पहुँचे। 1947 से 1974 तक पत्रिकारिता के क्षेत्र में (हिन्दुस्तान टाइम्स तथा रटेंट्समैन में) कार्य किया तथा भारत सरकार द्वारा सूचना प्रसारण मंत्रालय में अधिकारी रहे। किंव लगभीकी दूतावास की सूचना सेवा विभाग में कार्य किया।

देश-प्रिंटिंग में भ्रमन करते हुए तथा ऐतिहासिक घट्ठलों का निरीक्षण करते हुए उनके जड़ खांजे की। उन खांजों का परिणाम उनकी रचनाओं के रूप में हमें मिलता है। उनकी बुद्ध रचनाएँ हिन्दू-ताजमहल मन्दिर भवन हैं, भारतीय इतिहास की भवान गुले, विश्व इतिहास के विनुक्त अध्याप, वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास, फोन काहता है अब्दर भहन था?

उनकी भान्चता है यि पात्रात्म इतिहासकारों ने इतिहास योग भष्ट करने का जो गुप्रपास किया है, यह ऐदिक धर्म को नष्ट करने के लिए जानपूङ्कार किया है तो दुर्भाग्यज्ञ हमारे स्थाथी इतिहासकार इसमें उनका राहयोग कर रहे हैं।



हिन्दी साहित्य सदन

2 गी.डी. चम्पस, 10/54 डॉ. बी. गुप्ता शेड,
 करोल बाग, नई दिल्ली 110005
 ईमेल: indlabooks@rediffmail.com